द्रव्य सहयोग

श्री भंवरलालजी साहब

श्री जवाहरलाल एण्ड सन्स

साजन नगर, इन्दौर



श्रीमती मानबाई

कोहीनूर दाल मिल

फ्रीगंज, आगरा

सामायिक-सूत्र

सम्पादक
ज्ञानेन्द्र बाफना

प्रकाशन सहयोग
प्रेम भण्डारी

प्रकाशक
चन्द्रराज सिंघवी
मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

रामललाजी का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर-३

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल की प्रमुख प्रवृतियाँ

[मूल प्रेरक : आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब]

- आध्यात्मिक विचार एवं आचार का प्रचार व प्रसार हेतु मासिक जिनवाणी पत्रिका का विगत २१ वर्षों से प्रकाशन.

- समाज में ज्ञान एवं चरित्रवान सुश्रावकों, स्वाध्यायियों, योग्य धार्मिक अध्यापकों तथा मेधावी प्रचारकों को तैयार करने हेतु स्वाध्यायी एवं शिक्षक प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन करना.

- समाज में प्रकाण्ड पण्डितों, विद्वानों एवं वक्ताओं को तैयार करने हेतु शिक्षण संस्थान का संचालन करना.

- गांवों एवं नगरों में बालक-बालिकाओं तथा नवयुवकों आदि में धार्मिक संस्कार डालने हेतु स्थानीय धार्मिक शिक्षण शिविरों तथा धार्मिक पाठशालाओं का संचालन करना.

- सन्त, मुनियों व महासतियांजी के चौमासों से वंचित क्षेत्रों में पर्यूषण-पर्व पर शास्त्र व्याख्यान, चौपाई आदि वाचन हेतु योग्य स्वाध्यायियों को भेज कर जैन संस्कृति के रक्षण व प्रचार एवं प्रसार में योगदान देना.

- समाज के विद्वान, चरित्रवान, समाज सेवियों का प्रति वर्ष गुणी-अभिनन्दन करना.

- मुनियों व गृहस्थों के बीच का ब्रह्मचारी या साधक वर्ग तैयार करना.

- भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण शताब्दी को व्यापक एवं रचनात्मक ढंग से मनाने हेतु विविध प्रकार के त्याग एवं प्रत्याख्यान करवाने हेतु अखिल भारतीय वीर निर्वाण साधना समारोह समिति का गठन.

- आगम एवं अन्य विविध प्रकार के सद् साहित्य का प्रकाशन करना.

'सामायिक' शब्द से जैन समाज का युवक तथा वृद्ध प्रत्येक परिचित है। सामायिक याने समत्व प्राप्ति की साधना। संयोग व वियोग, सुख व दुःख, हर्ष व शोक प्रत्येक मनः-स्थिति में समत्व की अनुभूति—न तो दुःख, शोक व वियोग के प्रसंगों पर विलाप, उद्वेग, आकुलता एवं व्याकुलता और न ही वैभव, हर्ष एवं संयोग की स्थिति में फूलने की मनोदशा कितना सुन्दर व सहज स्व की प्राप्ति का लक्ष्य है। वस्तुतः सामायिक आत्मा के स्व रूप में रमण की अलौकिक साधना है। यदि मोक्ष के लिए किसी को सोपान की संज्ञा दी जा सकती है तो इसी सामायिक को।

आज के इस भौतिक युग में भी सहस्राधिक श्रद्धालु भक्त-हृदय श्रावक-बन्धु नित्य प्रति यह साधना करते हैं पर सामायिक का सहज उन्मुक्त आनन्द कुछेक साधकों को ही मिला है, समता के सुधापान की अनुभूति इने-गिने श्रावक-हृदयों को ही हुई है। कारण क्या है? हममें से अनेक सामायिक की साधना-संलग्न होकर भी सामायिक का स्वरूप व इसके सूत्र पाठों का सम्यक् आशय नहीं जानते हैं। क्रिया में निखार तभी होगा जब कि वह ज्ञान के प्रकाश में हो। दशवैकालिक सूत्र निर्देश देता है—'पढमं नाणं तओ दया।'

प्रस्तुत पुस्तक में सामायिक के भव्य स्वरूप तथा इसके सूत्रों के पवित्र आशय को पाठक बन्धुओं के समक्ष एक छोटे से रूप में रखने का प्रयास किया गया है। सामायिक के बारे में सब

सम्पादकीय

कुछ लिखना मेरी प्रज्ञा के बाहर है पर प्रारम्भिक जानकारी देने का यत्न अवश्य किया है। प्रस्तुत संकलन हेतु मुझे प्रेरणा 'गजेन्द्र स्वाध्याय मित्र मण्डल' के मेरे युवा स्वाध्यायी मित्रों द्वारा मिली। वहां रविवारीय स्वाध्याय गोष्ठियों में आयोजित पारस्परिक चर्चाएँ ही इस पुस्तक का आधार कही जा सकती हैं। प्रातः स्मरणीय महामहिम परम पूज्य अ० वा० ब्र० आचार्य प्रवर श्री १००८ **श्री हस्तीमलजी** म० सा० का उपकार मैं शब्दों में ज्ञापित नहीं कर सकता जिनकी असीम अनुकम्पा एवं शुभाशीर्वाद ने ही हमारे हृदय में सामायिक-स्वाध्याय के प्रति कुछ उत्साह व जिज्ञासा उत्पन्न की। गुरुदेव की प्रेरणा व कृपा से ही मुझे कुछ लिखने का बल प्राप्त हुआ है। कुछ जानकारी भी उन्हीं महामहिम आचार्य श्री का ही कृपा फल है।

पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में मैं अपने अभिन्न मित्र **श्री नेमीचन्द बोथरा** का सहयोग नहीं भूला सकता। संकलन का अवलोकन कर **प्रो० चांदमलजी कर्णावट** व **श्री सम्पतराजजी डोसी** ने अमूल्य सुझाव प्रदान किये, एतदर्थ आभार व्यक्त करता हूँ।

पुस्तक के इतने सुन्दर व आकर्षक रूप में मुद्रण का श्रेय **श्री प्रेम भण्डारी** को है।

अन्त में मुझे यही आशा है कि नवयुवक बन्धु इस पुस्तक को पढ़ कर वीर निर्वाण की २५ वीं शताब्दी के इस मंगल प्रसंग पर अपने जीवन में सामायिक स्वाध्याय की दिव्य ज्योति का आलोक प्रकाशित करेंगे।

—ज्ञानेन्द्र बाफना

प्रकाशकीय

'सामायिक सूत्र' पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। नवयुवक उत्साही कार्यकर्त्ता एवं मण्डल के सहमन्त्री श्री ज्ञानेन्द्रजी बाफना ने बड़ी लगन और परिश्रम से इनका लेखन कार्य किया. पाठों के शब्दार्थ के अतिरिक्त प्रत्येक शब्द का संक्षिप्त, सरल विवेचन किया गया है। सामायिक-संबंधी उठने वाली विभिन्न शंकाओं का भी समुचित समाधान प्रस्तुत किया है। निश्चय ही यह पुस्तक जहां एक ओर छात्र-छात्राओं के लिये रुचिकर एवं बहुपयोगी सिद्ध होगी वहां दूसरी ओर धार्मिक पाठशालाओं, शिक्षण शिविरों, स्वाध्याय केन्द्रों आदि में भी समान रूप से सहायक सिद्ध होगी।

मंडल श्री ज्ञानेन्द्रजी बाफना, श्री प्रेममलजी भण्डारी, श्री चान्दमलजी कर्णावट एवं श्री सम्पतराजजी डोसी को धन्यवाद देते हुए आभार प्रकट करता है तथा भविष्य में ऐसे सहयोग की अपेक्षा रखता है।

पुस्तक प्रकाशन हेतु हमें इन्दौर निवासी श्री भंवरलालजी साहब तथा आगरा निवासी श्रीमती मानबाई का अभूतपूर्व आर्थिक सहयोग मिला इसके लिये मैं मण्डल की ओर से उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ तथा विश्वास करता हूँ कि भविष्य में भी मण्डल की प्रवृतियों में उनका अनुकरणीय सहयोग उपलब्ध होता रहेगा।

—चन्द्रराज सिंघवी

नवकार मन्त्र

नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्व साहूणं।
एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलम् ॥

नमो	—	नमस्कार हो
अरिहंताणं	—	श्री अरिहंतों को
सिद्धाणं	—	श्री सिद्धों को
आयरियाणं	—	श्री आचार्यों को
उवज्झायाणं	—	श्री उपाध्यायों को
लोए सव्व साहूणं	—	लोक में विद्यमान सर्व साधुओं को
एसो	—	इस प्रकार यह
पंच नमुक्कारो	—	पांच पदों का नमस्कार
सव्व	—	समस्त
पावप्पणासणो	—	पापों का विनाशक है
च	—	और
मंगलाणं सव्वेसिं	—	सब मंगलों में
पढमं	—	प्रथम
मंगलम्	—	मंगल
हवइ	—	है।

जैन परम्परा में नमस्कार मन्त्र का बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान है। इसका दूसरा नाम नवकार मंत्र भी है। इस सूत्र में ६८ अक्षर हैं, आठ संपदा हैं व नव पद हैं और पंच पद के १०८ गुण हैं। इन पांच पदों को पंच परमेष्ठी कहते हैं, 'परमे' अर्थात् परम पद (ऊँचे स्थान) 'परष्ठिन्'

अर्थात् रहे हुए। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, साधारण संसारी जीवों से ऊंचे स्थान पर रहे हुए हैं, इसलिये वे परमेष्ठी कहलाते हैं। इनमें अरिहंत व सिद्ध देव हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीन गुरु हैं।

पंच परमेष्ठी का नमन आत्मा को कलिमल से दूर कर पवित्र करता है। जिस व्यक्ति के मन में सदा नवकार मंत्र के उदात्त भाव का चिन्तन चलता रहता है, उसका अहित संसार में कौन कर सकता है। इतिहास साक्षी है कि इस महान् मंत्र के स्मरण से सेठ सुदर्शन को शूली का सिंहासन बन गया, भयंकर विषधर सर्प पुष्पमाला में परिणत हो गया। वस्तुतः नवकार मंत्र इहलोक एवं परलोक सर्वत्र समस्त सुखों का मूल है।

नवकार मंत्र विश्व के समस्त मंगलों में सर्व श्रेष्ठ है। यह द्रव्य मंगल नहीं वरन् भाव मंगल है। दधि, अक्षत, गुड़ आदि द्रव्य मंगल कभी अमंगल भी बन सकते हैं, पर नवकार मंत्र कभी अमंगल नहीं हो सकता। यह परमोत्कृष्ट मंगल, शान्तिप्रदाता, कल्याणकारी एवं भक्तिरस में आप्लावित करने वाला है।

नवकार मंत्र यह प्रमाणित करता है कि जैन धर्म संप्रदायवाद व जातिवाद से परे होकर सर्वथा गुणवादी धर्म है। अतः इसके आराध्य मंत्र में अरिहंत और सिद्ध शब्दों का प्रयोग है; ऋषभ, शांति, पार्श्व या महावीर जैसे किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। जैसा कि अन्यत्र मिलता है। जो भी महान् आत्मा कर्म शत्रुओं को पराजित व विनष्ट कर इन उत्कृष्ट पदों को प्राप्त करले, वही अरिहंत और सिद्ध अर्थात् हमारे परमपूजनीय महामहिम देव हैं। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय व साधु का उल्लेख करते हुए भी किसी व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष के नाम का वर्णन नहीं है वरन् जो भी महापुरुष इन पदों के लिए आवश्यक गुणों से युक्त हों, वे देव और गुरु पद के योग्य एवं वंदनीय हैं।

इस मंत्र में पांच पद—देव गुरु रूप गुणी और ज्ञानादि चार गुण, यों कुल नवपद की आराधना की गयी है। इन नव की आराधना सर्वदा कल्याणकारी है। नव पद का आराधक यह मंत्र हमें नौ के अंक का शुभ सन्देश भी देता है। जिस प्रकार ९ के अंक को चाहे किसी भी संख्या से गुणा किया जाय, गुणनफल का योग ९ ही रहता है। इसी प्रकार यह मंत्र भी अपने आराधकों को सदा समभाव का यह अमर सन्देश देता है कि—

'दुःखे सुखे वैरिणि बंधुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताऽशेष ममत्व बुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदाऽहि नाथ ।।'

अर्थात् चाहे सुख हो अथवा दुःख, किसी इष्ट वस्तु का संयोग हो या वियोग, चाहे वन में हों या महलों में, हे नाथ ! मेरी आत्मा इन सब स्थितियों में समान भाव से स्थिर रह सके। न तो हर्ष हो और न ही शोक। न तो अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति से हर्ष की अनुभूति हो और न इनके प्राप्त नहीं होने या वियोग से शोक ही।

नवकार मंत्र में जिन पंच परमेष्ठी को वन्दन किया गया है, उनको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

१. अरिहंत—अरिहंत में दो शब्द हैं-अरि+हंत। 'अरि' का अर्थ है हानि करने वाला शत्रु तथा हंत का अर्थ है नष्ट करने वाला। प्रश्न होता है शत्रु कौन से ? तथा यहां मारने का क्या तात्पर्य है ? यह मारना भी मुक्ति का रास्ता कैसा ? प्रत्युत्तर प्रस्तुत है कि आत्मा के असली शत्रु मानव मानव नहीं, प्राणी प्राणी नहीं किंतु अपने वे विकार हैं जो आत्म-गुणों को क्षति पहुँचाते हैं। वास्तव में शत्रु वे हैं जो हानि करने वाले हैं। तन व धन की हानि करने वाले वास्तव में आत्मा की हानि नहीं करते, किंतु जो काम क्रोधादि विकार आत्मगुणों की हानि करते हैं, वे ही वस्तुतः आत्मा के शत्रु हैं। जो व्यक्ति कैवल्य प्राप्ति में बाधक इन घनघाती कर्मों को नष्ट कर देते हैं, वे ही सच्चे शत्रुओं को परास्त करने वाले महापुरुष अरिहंत हैं। घनघाती कर्म वे हैं जो आत्मा के सच्चे स्वरूप–दिव्य ज्योति के प्रगट होने में बाधक हैं—जैसे—ज्ञानावरणीय १, दर्शनावरणीय २, मोहनीय ३ व अंतराय ४। इनका क्षय होने से केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि अक्षय गुणों की प्राप्ति हो जाती है। अरिहंत प्रभु अठारह दोष रहित और बारह गुण सहित हैं।

अरिहंत भगवान जिन अठारह दोषों से रहित हैं, वे निम्न हैं—

अंतराया दान लाभ, वीर्य भोगोपभोगगाः,
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एवं च।
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा,
राग-द्वेषौ च नो दोषाः, तेषामष्टादशाऽप्यमी॥ अभि०

दानान्तराय १, लाभान्तराय २, भोगान्तराय ३, उपभोगान्तराय ४, वीर्यान्तराय ५, काम ६, हास्य ७, रति ८, अरति ९, भय १०, शोक ११, जुगुप्सा १२, मिथ्यात्व १३, अज्ञान १४, निद्रा १५, अविरति १६, राग १७ एवं द्वेष १८। दिगम्बर परम्परा में क्षुधा, तृषा, जरा जैसे शारीरिक दोषों को मिला कर १८ बतलाये हैं। वस्तुतः यहाँ मानसिक दोष से ही खास अपेक्षा है। शरीर के दोषों से अर्हत्ता में कोई कमी नहीं आती।

अरिहंत भगवान के बारह विशिष्ट गुण होते हैं जो निम्न हैं—अशोक-वृक्ष १, पुष्पवृष्ठि २, दिव्य ध्वनि ३, चामर ४, स्फटिक सिंहासन ५, भामण्डल ६, देवदुंदुभि ७ एवं एक दूसरे पर तीन मनोहर छत्र ८। आठ मंदों को गालने से प्राप्त इन आठों विभूतियों को पाकर भी अरिहंत महाप्रभु इनमें राग नहीं करते हैं, यह गुण है। ये आठ गुण आठ प्रतिहार्य कहलाते हैं, क्योंकि प्रतिहारों (राजा का सेवक) की तरह ये साथ रहते हैं इन आठ गुणों के अतिरिक्त चार गुण निम्न हैं। अनन्त ज्ञान ९, अनन्त दर्शन १०, अनन्त चारित्र ११ एवं अनन्त बलवीर्य १२।

२. सिद्ध—जिन महान् आत्माओं ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है वे ही सिद्ध हैं। आत्मा का निजी कार्य क्या है—आत्मा पर जो कर्म का मल लगा हुआ है और जो अपने असली स्वरूप को पहिचान ने में बाधक हैं उनको दूर कर आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्राप्त करना ही आत्मा का स्वकार्य है। आत्मा का असली स्वरूप अरूपी, अविनाशी, अजर, अमर, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दरूप है। वैसे स्वरूप की प्राप्ति करने वाले ही सिद्ध हैं। सिद्ध परमात्मा पन्द्रह प्रकार से सिद्ध गति प्राप्त करते हैं—

तीर्थ सिद्धा १, अतीर्थ सिद्धा २, तीर्थंकर सिद्धा ३, अतीर्थंकर सिद्धा ४, स्वयं बुद्ध सिद्धा ५, प्रत्येक बुद्ध सिद्धा ६, बुद्धबोधित सिद्धा ७, स्त्रीलिंग सिद्धा ८, पुरुषलिंग सिद्धा ९, नपुसंकलिंग सिद्धा १०, स्वयंलिंग सिद्धा ११, अन्य लिंग सिद्धा १२, गृहस्थलिंग सिद्धा १३, एक सिद्धा १४ एवं अनेक सिद्धा १५।

सिद्ध भगवान के आठ अत्यन्त विशिष्ट गुण हैं—

अनन्त ज्ञान १, अनन्त दर्शन २, अव्याबाध सुख ३, क्षायिक सम्यक्त्व ४, अटल अवगाहन ५, अमूर्तपन ६, अगुरु लघु (ऊंच नीच के व्यवहार रहित) ७ एवं अनन्तवीर्य ८।

३. आचार्य—ये गुरुपद में प्रमुख हैं। आचार्य का तात्पर्य है वे महापुरुष जो स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं तथा दूसरों से भी पालन करवाते हैं। जो संघ का संचालन करते हैं। आचार्य समस्त श्रमण वर्ग के अग्रगण्य नेता होते हैं। उनकी आज्ञा से ही संघ का व्यवहार चलता है। आचार्य की आज्ञा सर्वोपरि मानी गयी है। ये ही श्रमण संघ के प्रशासनिक कार्यों का नेतृत्व करते हैं। आचार्य के ३६ गुण होते हैं जो निम्न हैं—

पांच आचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार) का पालन करे और दूसरों को पालन करने का उपदेश दें; पांच इन्द्रियों के विषयों को जीतने वाले; नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन

करने वाले; चार कषाय के टालने वाले; पांच महाव्रतों के पालने वाले और पांच समिति व तीन गुप्ति की शुद्ध आराधना करने वाले। ऐसे ३६ गुण से सम्पन्न महापुरुष आचार्य कहलाते हैं।

४. उपाध्याय—उपाध्याय श्रमण वर्ग के शैक्षणिक कार्यों के संचालक होते हैं। ये ११ अंग, १२ उपांग, चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी इन २५ गुणों से सम्पन्न व आगमों के पूर्णज्ञाता होते हैं। सूत्र व्याख्या के क्षेत्र में उपाध्याय का मत अधिकारी मत माना जाता है। उपाध्याय का कार्य स्वयं विमल ज्ञानादि प्राप्त करना तथा अन्य जिज्ञासुओं को द्वादशांगी वाणी का ज्ञान दे कर उन्हें मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में स्थिर करना है। शास्त्र-सम्मत उपदेश व प्रवचन द्वारा लोगों को सम्यक्त्व में स्थिर रखना तथा जिनवाणी की शास्त्र सम्मत व्याख्या करना ही उनका प्रमुख कार्य है। मतभेद की दशा में शास्त्रीय सत्य को जन-जन के मन में उतार कर मिथ्या मार्ग से वचाना उपाध्याय का मुख्य कार्य है।

५. साधु—जो महापुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों को तीन करण तीन योग से पालन करते हैं और श्रमणोचित्त गुणो से युक्त होते हैं, वे साधनाशील महापुरुष ही साधु कहलाते हैं। जो पांच समिति, तीन गुप्ति का विधिवत पालन करते हुए मोक्ष मार्ग की राह में आगे बढ़ते रहते हैं, वे साधु हैं। साधु के २७ गुण होते हैं। उन श्रमणोचित्त गुणों से युक्त साधु को ही वन्दनीय साधु कहते हैं। ये २७ गुण निम्न हैं—

पांच महाव्रतों का पालन, पांच इन्द्रियों की विजय, चार कषायों पर विजय; भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य, क्षमावन्त, वैराग्यवन्त, मन समाधारणता, वचन समाधारणता, काय समाधारणता, ज्ञान-सम्पन्नता, दर्शन सम्पन्नता, चारित्र सम्पन्नता, वेदनीय सहिष्णुता एवं मारणातिक कष्ट सहिष्णुता।

प्रश्न—१ नवकार मंत्र के पांच पदों में देव पद कितने व गुरु पद कितने हैं?

उत्तर— नवकार मंत्र में वंदित पांच परमेष्ठी को दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैं—देव पद व गुरु पद। अरिहंत व सिद्ध ये दो देव पद हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन गुरु पद।

प्रश्न—२ अरिहंत और सिद्ध में क्या अन्तर है?

उत्तर यह सत्य है कि अरिहंत और सिद्ध दोनों ही देव हैं तथा कर्म शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं, फिर भी इनमें अन्तर है।

(i) अरिहंत और सिद्ध में प्रथम अन्तर तो यह है कि सिद्ध भगवान ने अपने आठों ही कर्मों का नाश कर लिया है जब कि अरिहंत भगवान ने अभी केवल चार घनघाती कर्मों का ही क्षय किया है, उनके आयुष्य, नाम, गोत्र तथा वेदनीय ये चार कर्म अभी बाकी हैं।

(ii) दूसरे चूंकि सिद्ध भगवान के कोई कर्म शेष नहीं है, अतः उनके रंग, रूप और शरीर का अभाव होने से वे जन्म-मरण रहित हैं। वे न तो किसी जाति या गोत्र से संबद्ध हैं और न ही सुख-दुःख की अनुभूति से युक्त। सिद्ध भगवान निरंजन निराकार हैं। जिस प्रकार ज्योति में ज्योति का समावेश हो जाता है, वैसे ही जिस स्थान पर एक सिद्ध आत्मा के प्रदेश होते हैं उसी स्थान पर अनन्त सिद्ध आत्माओं के प्रदेश भी रहे हुए हैं।

इसके विपरीत अरिहंत भगवान के अभी आयु आदि चार कर्म बाकी हैं अतः ये अभी सशरीरी मनुष्य भव में विद्यमान हैं। चूंकि उनके नाम कर्म शेष हैं अतः उनके शरीर, रंग, रूप, आकार आदि हैं। चूंकि उनके गोत्र कर्म शेष हैं, अतः वे उच्च गोत्र का अनुभव करते हैं। वेदनीय कर्म शेष होने से वे अभी साता या असाता का भोग भी करते हैं।

(iii) अरिहंत भगवान अभी सशरीरी हैं तथा धर्म संघ के नेता हैं, अतः वे उपदेश देते हैं। सिद्ध भगवान अशरीरी होने से उनके प्रवचन का सवाल ही नहीं उठता।

नोट—ध्यान रहे कि अरिहंत भगवान ही काल कर सिद्ध पद की प्राप्ति करते हैं।

प्रश्न–२ अरिहंत भगवान को सिद्ध भगवान की अपेक्षा प्रथम स्थान क्यों ?

उत्तर– अरिहंत और सिद्ध दोनों में से बड़ा कौन और छोटा कौन, प्रथम कौन और द्वितीय कौन, इसका कोई निरपेक्ष समुत्तर देना असंभव है। अरिहंत भगवान चूंकि सशरीरी हैं, अतः वे लोक में विचरण

करते हुए जन-जन में धर्म की ज्योति जगाते हैं तथा सम्यक्त्व एवं चारित्र का दिव्य सन्देश प्रसारित करते हैं अतः उनके सम्पर्क से हम धर्म के स्वरूप से तथा सिद्ध भगवान से परिचित होते हैं। दूसरे उनसे हमारा सशरीरी होने के नाते निकट सम्पर्क है। वे हमारे परम उपकारी हैं। यही कारण है कि अरिहंत भगवान को सिद्ध भगवान की अपेक्षा प्रथम स्थान दिया गया है।

प्रश्न–४ नवकार मंत्र के नव पदों में कुल कितने अक्षर हैं ?

उत्तर– नवकार मंत्र के नव पदों में पहले पद के ७, दूसरे के ५, तीसरे व चौथे के ७–७ और पांचवें के ९ अक्षर मिल कर पांच पदों के ३५ और पीछे के ४ पदों के ३३ अक्षर मिलाने से नव पदों के कुल ६८ अक्षर होते हैं। इसकी महिमा अनन्त है। उसे शब्दों में सीमित कर कहना सम्भव नहीं है। जैसे कहा है—

> **'प्रथम सात अक्षर पढो, पांच पढो चित्त लाय।**
> **सात सात नव अक्षरा, जपतां पाप पुलाय ॥'**

● गुरु वन्दन-सूत्र

तिक्खुत्तो आयाहिणं, पयाहिणं, करेमि,
वंदामि नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि,
कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं
पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि ॥

तिक्खुत्तो	—	तीन वार
आयाहिणं	—	दाहिनी ओर से
पयाहिणं	—	प्रदक्षिणा
करेमि	—	करता हूँ
वंदामि	—	वन्दन करता हूँ
नमंसामि	—	नमस्कार करता हूँ
सक्कारेमि	—	सत्कार करता हूँ
सम्माणेमि	—	सम्मान देता हूँ
कल्लाणं	—	कल्याण रूप
मंगलं	—	मंगल रूप
देवयं	—	धर्म देव
चेइयं	—	ज्ञानवंत या चित्त को प्रसन्न करने वाले (ऐसे आपकी)
पज्जुवासामि	—	उपासना करता हूँ
मत्थएण	—	मस्तक झुका कर
वंदामि	—	नमस्कार करता हूँ

प्रस्तुत सूत्र गुरु वन्दन सूत्र है। इसके अन्तर्गत गुरुदेव को वंदना की गयी है। गुरु शब्द में दो अक्षर हैं 'गु' और 'रु'। 'गु' अक्षर अन्धकार का वाचक है तथा 'रु' नाश का। अतः गुरु शब्द का पूरा शाब्दिक अर्थ है अन्धकार का नाश करने वाला। यह अन्धकार कोई द्रव्य अन्धकार नहीं वरन् अज्ञान तथा मोह का भाव अन्धकार है। द्रव्य अन्धकार तो दीपक भी मिटा सकता है पर इस भावान्धकार को मिटाने में गुरुदेव की आत्मीय शक्ति ही समर्थ है।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में गुरु पद का बड़ा महत्व है। अन्य कोई पद इसकी समानता नहीं कर सकता। गुरु हमारी जीवन नौका के खेवैया है। आध्यात्मिक जीवन मन्दिर के वे ही प्रकाशमान दीपक हैं। उनकी दया दृष्टि से ही हमें वह ज्ञान-प्रकाश प्राप्त होता है जिससे हम जीवन की विकटतम घाटियों को भी सानन्द पार कर सकें। संसार के काम, क्रोध, लोभ आदि भयंकर आवर्तों में हमको कुशलतापूर्वक पार उतारने में वे ही समर्थ हैं। विनयपूर्वक गुरुदेव को वन्दन करना ही इस पाठ का प्रयोजन है।

पाठ के प्रारम्भिक शब्द 'तिक्खुतो आयाहिणं पयाहिणं करेमि' वंदन की विधि को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करते हैं। फिर 'वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि' ये ४ पद गुरुदेव के प्रति विनय, भक्ति और बहुमान व्यक्त करते हैं।

देखने में यद्यपि शब्द 'वंदामि नमंसामि' तथा 'सक्कारेमि सम्माणेमि' समानार्थक प्रतीत होते हैं। पर प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न है। वंदामि का अर्थ वंदन-अभिवादन करना, मुख से गुणगान करना अर्थात् वाणी द्वारा स्तुति करना ही वंदन है।

'नमंसामि' का अर्थ नमस्कार करना है। नमस्कार मन और तन से हो। यदि ऊपर से मस्तक झुक रहा है पर साधक के मन में श्रद्धा की बलवती तरंगे हिलोरे नहीं मार रही हो तो ऐसा नमस्कार निष्प्राण है, शून्य मात्र है।

सत्कार का अर्थ मन से आदर करना है और सम्मान का अर्थ है खड़े होकर आसन आदि की निमंत्रणा से बहुमान देना। अन्य सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और कार्यों से गुरुदेव को अधिक महत्व देना ही उनका बहुमान है। गुरुदेव का आगमन सुनते ही मन समस्त सांसारिक कार्यों से विमुक्त हो गुरु सेवा में संलग्न हो जाना चाहिये। प्रथम चक्रवर्ती भरत की भक्ति गुरुदेव के प्रति बहुमान का आदर्श उदाहरण है। एक ओर हम हैं जो घन्टे भर के लिये भी सांसारिक कार्य नहीं छोड़ सकते हैं, दूसरी ओर हमारे से हजार-हजार गुना अधिक व्यस्त, अधिक जिम्मेदारी के पद पर आसीन चक्रवर्ती भरत हैं जो भगवान ऋषभदेव का आगमन सुनते ही पुत्र-जन्मोत्सव और चक्र-रत्न की उत्पत्ति का मंगल महोत्सव छोड़ कर प्रथम भगवान के चरणों में जाकर ज्ञान का महोत्सव मनाते हैं। धन्य है उनके बहुमान भाव को!

'कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं' आदि पदों में परम पुनीत गुरुदेव के चरणों की विशेषता बतलाई गई है। ये गुण संक्षेप में इस प्रकार हैं—

कल्लाणं का स्थूल अर्थ क्षेम, कुशल या शुभ होता है। गुरुदेव से हमें कल्याण प्राप्ति के साधनों व मार्ग का पथ-प्रदर्शन मिलता है। अतः उनके लिये इस विशेषण का उपयोग सर्वथा उपयुक्त है।

'मंगलं' का अर्थ शिव या प्रशस्त होता है। जिससे साधक का अहित दूर हो वही मंगल है। गुरुदेव ही साधक को हित का उपदेश देते हैं। जिसके द्वारा साधक पूजक से पूज्य-विश्ववंद्य हो जाता है, अतः वे मंगल रूप हैं। आध्यात्मिक साधना के उत्कृष्ट शिखर पर चढ़ कर ही त्रिभुवन पूज्य बन सकता है। गुरुदेव ही इस श्रेणी पर आरूढ होने के मार्ग को बताने में समर्थ हैं।

'देवयं' का अर्थ है देवता। देवता से यहाँ तात्पर्य सांसारिक भोग विलासी देवताओं से नहीं वरन् दैविक गुणों से अलंकृत महापुरुषों से है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार देव वे हैं जो अपने आत्म स्वरूप में चमकते हैं। गुरुदेव ही ऐसे चमत्कारी पुरुष हैं। अत. वे धर्म देव हैं।

'चेइयं' का अर्थ है ज्ञान। गुरुदेव ज्ञान गुण के भंडार हैं तथा वे ही इस ज्ञान ज्योति से अबोध व अज्ञान आत्माओं को प्रकाशित करते हैं फिर 'चित्ताल्हादक त्वात्'—वे चित्त को आल्हादित करते हैं अतः उन्हें चेइयं कहा गया है।

प्रश्न—१ वन्दन के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर— वन्दन तीन प्रकार के होते हैं। उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य। 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से १२ आवर्त्तन के साथ वंदन करना उत्कृष्ट वंदन है। जब गुरुदेव के पास प्रायश्चित आदि करना हो या कोई विशिष्ट प्रसंग हो तो इस पाठ द्वारा वंदन किया जाता है।

तिक्खुत्तो के पाठ द्वारा वंदन मध्यम वंदन हैं। साधारणतः यही परिपाटी वंदन के लिये प्रचलित है। आमतौर पर गुरुदेव को इसी पाठ द्वारा वंदन किया जाता है। श्वेताम्बर मूर्ति पूजक परम्परा में 'इच्छामि खमासमणो' से बैठ कर वंदन करने की परम्परा है। केवल 'मत्थएण वंदामि' जघन्य वंदन है।

प्रश्न—२ वन्दन की विधि क्या है ?

उत्तर— वन्दन पंचांग नमाकर किया जाता है। ठूंठ की तरह खड़े रह कर केवल उच्चारण मात्र करना विधियुक्त वंदन नहीं है। आवर्तन करते हुए पांच अंग—मस्तक, दो हाथ व दो पैर तथा शरीर को नमाकर वंदन करना चाहिये।

प्रश्न–३ गुरुदेव को तीन बार वन्दन क्यों ?

उत्तर– जैन धर्म का आधार गुण है न कि व्यक्ति का भौतिक पिंड या नाम या जाति विशेष। गुरुदेव भी किसी महान आत्मा को उसके विशिष्ट गुणों के कारण ही माना जाता है। ये गुण तीन हैं— सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन व सम्यग् चरित्र। इन तीन गुणों के धारक हमारे गुरुदेव हैं, अतः उन्हें तीन बार वन्दन किया जाता है। हम तीन बार वन्दन करके गुरुदेव के रूप में इन तीन गुणों को वन्दन करते हैं और अपने मन, वाणी व काय का बहुमान सूचित करते हैं। इन तीनों से विनय करने हेतु भी त्रिधा वन्दन किया जाता है।

प्रश्न–४ मूल पाठ में शब्द प्रदक्षिणा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर– तीर्थंकर भगवान ठीक समवशरण के बीचों-बीच विराजित होने से सम्भव है आगन्तुक व्यक्ति उनके चारों ओर परिक्रमा कर फिर सामने आकर पंचांग नमाकर वन्दन करता हो (यह परिक्रमा उनके दाहिनी ओर से की जाती थी। प्रत्येक प्रदक्षिणा की समाप्ति पर वन्दन किया जाता है)।

पर वर्तमान में यह परम्परा विच्छिन्न हो गयी है। अब इसका स्थान आवर्त्तन ने ले लिया है। आवर्त्तन का तात्पर्य गुरुदेव के दाहिनी ओर से बांयी ओर तीन बार अंजलि बद्ध हाथ घुमाना है। यह रूपक आरती से काफी हद तक साम्य रखता है। कुछ लोग अपनी दाहिनी ओर से तीन अंजलि घुमा कर भी वन्दना किया करते हैं।

सम्यक्त्व-सूत्र

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

अरिहंतो	—	अरिहंत
मह	—	मेरे
देवो	—	देव
जावज्जीवं	—	जीवन पर्यंत
सुसाहुणो	—	सुसाधु
गुरुणो	—	गुरु और
जिणपण्णत्तं	—	जिन भगवान द्वारा प्ररूपित (शास्त्र)
तत्तं	—	तत्व है
इअ	—	यह
सम्मत्तं	—	सम्यक्त्व
मए	—	मैंने
गहियं	—	ग्रहण किया है

प्रस्तुत सूत्र सम्यक्त्व-सूत्र है । इसका संबंध श्रद्धा से है । सम्यक्त्व का अर्थ है सम्यक् श्रद्धा । सच्चे देव, सच्चे गुरु तथा सच्चे धर्म पर श्रद्धा रखना ही सम्यक् श्रद्धा याने सम्यक्त्व है । मिथ्यात्व अंधकार से आत्मिक प्रकाश की ओर अग्रसर होने की राह में सम्यक्त्व प्रथम द्वार है । यह आगे की उच्चतर भूमिकाओं का आधार है । सम्यक्त्व आत्मिक विकास के सभी द्वारों को उन्मुक्त करता है । आत्मा विना सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन के श्रावक पद या साधु पद की प्राप्ति नहीं कर सकता । याने प्रकारान्तर से मुक्ति मार्ग की साधना हेतु सम्यक्त्व की प्राप्ति आवश्यक है ।

सम्यक् श्रद्धा पूर्वक की गयी साधना ही साधना है, वही भव घटाने में सफल है, अन्यथा कर्म निर्जरा की दृष्टि से सर्वथा निष्फल है । जिस प्रकार विना अंक के लाखों, करोड़ों, अरबों, विंदियां केवल शून्य कहलाती हैं तथा गणित में सम्मिलित नहीं हो सकती है पर ये संख्याएँ अंकों का आश्रय

पाकर महान मूल्य वाली बन जाती है, उसी प्रकार बिना सम्यक्त्व असीम-साधना द्वारा तपश्चरण करना भी मात्र काय कष्ट है, साधना नहीं। यही व्यवहारिक-चारित्र सम्यक् श्रद्धा के साथ हो तो मुक्ति पथ का चिराग बन सकता है। सम्यक्त्व ही वह द्वार है जिससे आत्मिक धन के भंडार का रास्ता खुलता है। जब तक यह रास्ता बन्द है तब तक आत्मिक धन की प्राप्ति असम्भव है। भगवान महावीर ने अपनी देशना में कहा है—

"ना दंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण-गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं'॥"

सम्यक्त्व भले-बुरे को समझने की विवेक दृष्टि है। इसे प्राप्त कर व्यक्ति धर्म का साक्षात्कार कर लेता है, पौदगलिक भोगविलासों की ओर से उदासीन-सा होता हुआ शुद्ध आत्मिक स्वरूप की ओर अभिमुख होता है, इससे आत्मा और परमात्मा में एकता साधने का भाव जागृत होता है।

सम्यक्त्व का व्यवहारिक अर्थ है विवेक दृष्टि। जीवन को सन्मार्ग की ओर आगे बढ़ाने के लिए सत्य असत्य, धर्म अधर्म, सम्यक् और मिथ्या का विवेक अत्यन्त आवश्यक है। विवेक शून्य व्यक्ति अन्धे व्यक्ति की भांति है जिसे यह मालूम नहीं है कि वह किस ओर बढ़ रहा है और किस ओर उसे बढ़ना है।

सम्यक्त्व वह अनमोल रत्न है जो समस्त दुःखों की रामबाण औषधि है। समकिती व्यक्ति न हर्ष से आप्लावित होता है और न ही दुःख से शोकाकुल। सम्यक्त्व भव-भ्रमण को घटाता है। एक क्षण भी सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाय तो जीव अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन काल से अवश्य संसार विमुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में वर्णित सम्यक्त्व व्यावहारिक सम्यक्त्व है। इसकी भूमिका श्रद्धा पर है। यह श्रद्धा किनकी ? देव, गुरु और धर्म कौन से ? इसका विवेचन अग्रांकित पंक्तियों में किया गया है।

• देव अरिहंत

जैन धर्म का आधार आध्यात्मिक विचार धारा है। यहाँ परम पूजनीय देवपद के योग्य अरिहंत आदि वीतराग देवों को माना गया है न कि रागी, भोगी व कामी सांसारिक देवी-देवताओं को। सम्यक्त्वधारी का आराध्य देव तो वही महापुरुष हो सकता है जो काम, विकार, राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व व अपूर्णता से सर्वथा परे है। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं। ऐसे अरिहन्त भगवान ही सच्चे देव हैं।

उनकी श्रद्धा युक्त भक्ति ही संसार के बन्धनों से मुक्त कराने में समर्थ है। सांसारिक देवी-देवता जो स्वयं चौरासी के चक्कर में भव-भ्रमण कर रहे हैं, जो हमारी ही भांति अष्टकर्म से युक्त हैं तथा अपूर्ण ज्ञानी हैं, वे बन्धन से मुक्त करने में सक्षम नहीं होते। फिर भी मिथ्यात्वी इनके जाल में फंस कर इनसे आशा रखते हैं और ये तथाकथित भक्तों से भेंट चाहते हैं। कैसी विडम्बना है ?

"कु देवता पास जावे, हाथ जोड़ आडियां खावे, रगड़ २ नाक उन सारे दिन सेवता ।
धूप लावो, दीप लावो, नेवेद नारेल लावो, मेवा मिष्ठान लावो लावो ही लावो वे केवता ।
तूं तो जावे देव पास, देव करे थारी आस, मन में विचार मूढ, ये देवता है के लेवता ।
कहे मुनि रिखबचन्द मन में विचार कर, आंधला की नाव को ये आंधला ही खेवता ॥

• गुरु निर्ग्रन्थ

देव की भांति गुरु का पद भी आध्यात्मिक प्रगति में प्रमुख सहायक है। आत्मिक विकास में गुरु का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैन धर्म का अनुयायी गुरु के मात्र वेश का नहीं पर त्याग, तप और सद्गुणों का भक्त होता है। यहाँ गुरु किसी वेश या नाम से नहीं वरन् गुणों से माना गया है।

जो महापुरुष किसी प्रकार की गठरी व गांठ नहीं रखते, जिनके पास न धन, न माया की गठरी है और न ही राग-द्वेष की अन्तर्मन में गांठ। ऐसे समभावी, पांच महाव्रतों के पालक सन्त ही सच्चे गुरु हैं। समकिती हमेशा ऐसे निर्ग्रन्थ मुनिराज को ही गुरु समझता है न किसी सम्प्रदाय या वेश को। वह किसी सम्प्रदाय विशेष या वेश विशेष का मोह नहीं रखता। वेश को व्यवहार में चिन्ह मानता है। बोध प्राप्ति में किसी सन्त विशेष का उपकार मानते हुए भी सब संयमी साधुओं की सेवा करता है।

• धर्म केवली प्ररूपित

आत्मिक गुणों को धारण करना ही धर्म है। सच्चा धर्म वही है जो पूर्ण ज्ञानी, केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन के धारक अरिहंत भगवान द्वारा बताया गया है। जिनवाणी के अनुसार दया ही धर्म का मूल है। जहाँ दया है वहाँ धर्म है। जहाँ हिंसा है वहाँ अधर्म है। चाहे हिंसा धर्म के नाम पर ही क्यों न हो फिर भी वह धर्म रूप नहीं हो सकती। धर्म तो स्व पर की रक्षा में है न कि भक्षण में, हत्या में। स्पष्ट है कि यज्ञादि कार्य धर्म के अंग नहीं कहे जा सकते। विश्व में एक मात्र जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित

अहिंसा, संयम और तप ही सच्चा धर्म है जो कि भव-भ्रमण के बन्धन काटने में सक्षम है।

प्रश्न–१ क्या सम्यक्त्व भी लेने और देने की वस्तु है ?

उत्तर– अन्न, धन और भोजन की तरह सम्यक्त्व लेने देने की वस्तु नहीं होती है, आत्म-गुण होने से वह केवल समझने एवं समझाने की वस्तु है।

प्रश्न–२ सम्यक्त्व-सूत्र का पाठ प्रतिदिन क्यों ?

उत्तर– यह सत्य है कि सम्यक्त्व तो एक बार साधना के प्रारम्भ में ही ग्रहण किया जाता है, तथापि प्रतिदिन इस पाठ का उच्चारण प्रयोजनहीन नहीं है। प्रतिदिन उच्चारण से सम्यक्त्व की स्मृति सदैव बनी रहती हैं। प्रतिज्ञा पाठ के नित्य उच्चारण से आत्मा में नवीन समुत्साह व अपूर्व आत्म बल का संचार होता है साथ ही यह प्रतिज्ञा भी अधिक स्पष्ट, शुद्ध व इसकी भावना नित्य अधिकाधिक बलवत्तर बनती जाती है।

प्रश्न–३ सम्यक्त्व के क्या लक्षण है ?

उत्तर– सम्यक्त्व एक आत्मिक अनुभूति है—एक अलौकिक भाव-शक्ति है। कोई व्यक्ति सम्यक्त्वधारी है या नहीं इसका निर्णय व्यवहारिक प्रतिज्ञा धारण द्वारा नहीं किया जा सकता। इसके आधारभूत कुछ लक्षण हैं जो कि एक सम्यक्त्वधारी व्यक्ति में होने चाहिये। मोटे तौर पर इनके आधार पर ही व्यक्ति सम्यक्त्व-धारी है या नहीं, इसका निर्णय लिया जा सकता है। ये लक्षण निम्न हैं—

(१) प्रशम–क्रोध आदि कषायों की मन्दता—शान्त स्वभाव।

(२) संवेग—काम, क्रोध आदि बंध के कारणों से भयभीत रहना।

(३) निर्वेद—विषय भोगों में अरुचि होना।

(४) अनुकम्पा—दुःखी प्राणियों के दुःखों में समवेदना एवं दुःख दूर करने की भावना।

(५) आस्था—आत्मादि आगमसिद्ध पदार्थों पर आस्था रखना।

आलोचना–सूत्र

इच्छाकारेणं संदिसह भगवं
इरियावहियं पडिक्कमामि इच्छं । इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे हरियक्कमणे, ओसा उत्तिग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडा संताणा-संकमणे, जे मे जीवा विराहिया, एगिंदिया, बेइन्दिया, तेइन्दिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणंसंकामिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्समिच्छामि दुक्कडं ।

भगवं	—	हे भगवान् !
इच्छाकारेणं	—	इच्छा पूर्वक
संदिसह	—	आज्ञा दीजिये
इरियावहियं	—	ईर्यापथिकी–गमनागमन क्रिया का
पडिक्कमामि	—	प्रतिक्रमण करूं
इच्छं	—	आज्ञा प्रमाण है
इच्छामि	—	चाहता हूँ
पडिक्कमिउं	—	निवृत्त होने को
इरियावहियाए	—	ईर्यापथ संबंधी
विराहणाए	—	विराधना से
गमणागमणे	—	जाने व आने में
पाणक्कमणे	—	किसी प्राणी के दबने से
बीयक्कमणे	—	बीज के दबने से
हरियक्कमणे	—	हरी वनस्पति के दबने से

ओसा	—	ओस
उत्तिग	—	कीड़ियों के बिल
पणग	—	पांच रंग की काई
दग	—	सचित्त जल
मट्टी	—	सचित्त मिट्टी
मक्कडा-संताणा	—	मकड़ी के जाले इनके
संकमणे	—	कुचले जाने से
जे	—	जो
मे	—	मैंने
जीवा	—	जीवों की
विराहिया	—	विराधना की हो (पीड़ा पहुंचायी हो)
		कौन जीव—
एगिंदिया	—	एकेन्द्रिय
बेइन्दिया	—	बेइन्द्रिय
तेइन्दिया	—	तेइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय वाले
चउरिंदिया	—	चार इन्द्रिय वाले
पंचिंदिया	—	पांच इन्द्रिय वाले
अभिहया	—	सामने से आते को टकराया हो
वत्तिया	—	धूलादि से ढके हो
लेसिया	—	मसले हों
संघाइया	—	इकट्ठे किये हों
संघट्टिया	—	गाढ छुए हों
परियाविया	—	परितापना (पीड़ा) पहुंचायी हो
किलामिया	—	थकाये हों—कष्ट पहुँचाये हों
उद्दविया	—	हैरान किये हों
ठाणाओ	—	एक स्थान से
ठाणं	—	दूसरे स्थान पर
संकामिया	—	दुर्भावना से रखे हों
जीवियाओ	—	जीवन से
ववरोविया	—	रहित किये हों
तस्स	—	उसका
दुक्कडं	—	दुष्कृत-पाप
मि	—	मेरे लिये
मिच्छा	—	निष्फल हो

विवेक धर्म का मूल है। 'धम्मो विवेग माहिए'। ऐर्यापथिकी सूत्र जहाँ एक ओर विनय-भावना का स्वतः स्फूर्त्त रूप प्रकट करता है, वहाँ दूसरी ओर जैन धर्म की विवेक प्रधान सूक्ष्म-भावास्पंदित दयालुता की पवित्र भावना से ओत-प्रोत भगवती अहिंसा का मूर्त्त रूप भी प्रस्तुत करता है। इसमें गमनागमन के समय सूक्ष्म जीव से लेकर वृहत्तम् जीवों की सूक्ष्मतम हिंसाजन्य पापों के लिए प्रायश्चित कर अपनी आत्मा को स्वच्छ निर्मल बनाने का पवित्र सन्देश है। सभी दर्शनों, धर्मों एवं सूत्रों में यह अपने आप में अनूठा है।

जरा गौर से देखें। सूत्रकार की दृष्टि कितनी पैनी है? पाठों का उच्चारण करते—करते सहज ही हृदय अहिंसा की मंगलमयी भावना से अनुपूरित हो जाता है।

'इच्छाकारेणं संदिसह भगवं, इरियावहियं पडिक्कमामि'

वाक्यांश में साधक भगवान से या गुरु महाराज से गमनागमन में लगे हुए पापों की विशुद्धि हेतु आज्ञा लेने का उपक्रम करता है। विनय और नम्रता का कितना उदात्त भाव है कि यदि आपकी इच्छा हो तो मार्ग में चलने की क्रिया रूप पाप से निवृत्त होने के लिये प्रायश्चित करूं? अपने पापों की आलोचना करने हेतु भी गुरुजन की स्वीकृति। कितना उदात्त आदर्श है? 'इच्छं' इच्छामि, मडिक्कमिउं, इरियावहियाए' विराहणाए वाक्यांश में भगवान की आज्ञा शिरोधार्य कर इस इच्छा को पुनः दोहराया गया है।

'पाणक्कमणे....मकडा संताणा संकमणे' वाक्यांश में सूक्ष्म जीवों का उल्लेख है जैसे बीज, वनस्पति, ओस, कीड़ी, काई, जल, मिट्टी और मकडी के जाले आदि।

फिर 'जे मे जीवा विराहिया' में जीवों के प्रति हुए विराधना—उन्हें दी गयी पीड़ा की ओर संकेत है। ये जीव कौनसे? प्रत्युत्तर में सूत्रकार ने सम्पूर्ण जीवों को एक साथ लेने की दृष्टि से पांच जातियों में जीव को बांटा है। ये हैं—एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरद्रिय और पंचेंन्द्रिय।

जीवों की हिंसा-विराधना किस प्रकार? इसका समुत्तर तो अत्यन्त सूक्ष्म व पैनी दृष्टि से देखने योग्य है। 'अभिहया...........ववरोविया' सूत्रांश में जीवहिंसा के दस प्रकार वर्णन किये गये हैं। इतनी सूक्ष्म हिंसा के लिये भी हार्दिक अनुताप। अहिंसा की कितनी बारीकी। किसी को मारना ही पाप नहीं वरन् किसी के साथ टकराना, उसे पीड़ा पहुँचाना भी पाप है। किसी भी जीव की स्वतन्त्रता में किसी भी तरह की बाधा

डालना हिंसा है। अहिंसा के सम्बन्ध में इतना सूक्ष्म व विश्लेषणात्मक विवेचन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से जीव व उनकी विराधना के भिन्न-भिन्न प्रकारों का उल्लेख कर हृदय से प्रायश्चित्त करते हुए यह कामना अभिव्यक्त की गयी है कि 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' अर्थात् उसका दुष्कृत-पाप मेरे लिये निष्फल सिद्ध होवे। पाप का कितना भय ? पापों का फल कितना भयावह है ? हलुकर्मी आत्मा को निश्चय ही इससे महान् भय होता है वह प्रभु से इन पापों का कटु फल मिथ्या साबित होने की प्रार्थना करता है।

पश्चाताप व आत्म निरीक्षण से गन्दे वस्त्र के साबुन द्वारा स्वच्छ हो जाने की तरह ही आत्मदेव भी निर्मल पाप विमुक्त, तथा स्वच्छ-विशुद्ध बन जाता है। वस्तुतः आलोचना करते समय साधक अपने पापों की गठरी खोल देता है। उसका बोझ हल्का हो जाता है। प्रायश्चित्त से साधक निकाचित व चिकने कर्मों के बन्धन की श्रेणी से निकल जाता है। क्योंकि कर्म बन्ध में भावों का महत्व ही अत्यधिक है।

प्रश्न–१ इच्छाकारेणं के पाठ की विषय सामग्री क्या है ?

उत्तर– इस पाठ की विषय सामग्री गमनागमन क्रिया में लगे पापों की विशुद्धि से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत साधक सामायिक में बैठने से पूर्व या पश्चात् आने-जाने या किसी कार्य को करते समय होने वाले पापों की पश्चाताप द्वारा विशुद्धि करता है।

प्रश्न–२ इस सूत्र के कितने नाम हैं व कौन-कौन से तथा क्यों ?

उत्तर (i) आलोचना सूत्र एवं (ii) ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमण (iii) इच्छाकारेणं का पाठ।

इसे आलोचना सूत्र कहा गया है क्योंकि इसके अन्तर्गत साधक द्वारा अपने पापों की आलोचना की गई है। इसे ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमण भी कहा गया है क्योंकि इसके अंतर्गत ईर्यापथगमनागमन के मार्ग में लगने वाले पापों की आलोचना कर उससे पीछे हटने की क्रिया की जाती है। और 'इच्छाकारेणं' इस आदि पद के कारण इच्छाकारेणं कहते हैं।

प्रश्न–३ जीवों की विराधना के सूत्र में कितने प्रकार बतलाए हैं ?

उत्तर– इस सूत्र में जीव विराधना के अभिहयादि (जीवयाओ ववरोविया तक) दस प्रकार बतलाये गये हैं।

प्रश्न–४ यह सूत्र इसी स्थान पर एवं प्रतिज्ञा ग्रहण करने से पूर्व ही क्यों ?

उत्तर– पाप-विशुद्धि करने से पूर्व भगवान तथा गुरुदेव को वन्दन करने, उनका स्मरण कर मन को पवित्र बनाने व उनकी आज्ञा लेने की आवश्यकता है। साथ ही यह सौजन्य एवं शिष्टाचार का तकाजा भी है। अतः आलोचना के पूर्व नमस्कार मन्त्र व गुरु वंदन-सूत्र के पाठों को स्थान दिया गया है।

इसके बाद जब साधक महापुरुषों का ध्यान और चिंतन मनन कर प्रतिज्ञा सूत्र में आबद्ध होता है तो यह आवश्यक है कि वह इसके पहले ही अपने मन मन्दिर को स्वच्छ बनालें। एक साधारण किसान भी खेत में बीज डालने से पूर्व खेत में रहे हुए कंकर, पत्थर, घास-फूस आदि को हटाकर उसे साफ एवं समतल बनाता है। इसी भांति सामायिक भी एक आध्यात्मिक कृषि है। प्रतिज्ञा सूत्र के वांचन द्वारा हृदय में साधना के बीज डालना है। इसके पूर्व साधक अपने आप को ईर्यापथ में लगे दोषों से मुक्त कर मन मन्दिर को स्वच्छ एवं सम बनाने का उपक्रम करे इसी लक्ष्य से इस सूत्र को प्रतिज्ञा सूत्र में आबद्ध होने से पहले रखा है।

प्रश्न–५ हिंसा किसे कहते हैं ?

उत्तर– साधारण रूप से हिंसा का अभिप्राय किसी जीव को प्राण रहित कर देने से है, पर जैन धर्म की अहिंसा का दायरा अत्यन्त विस्तृत है। जैन धर्म के अनुसार किसी जीव की किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता में रुकावट करना भी आंशिक हिंसा है। हिंसा भले ही मानसिक हो, वाचिक हो या कायिक प्रत्येक प्रकार की हिंसा-हिंसा ही है। अभिहयादि दस बोलों पर शांत, सहज तथा गहन चिंतन ही हिंसा की परिभाषा के सम्बन्ध में इस बारीकी को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर देता है।

प्रश्न–६ क्या मात्र 'मिच्छामि दुक्कडं' कह देने मात्र से पापों की विशुद्धि हो जाती है ?

उत्तर– 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द कोई ऐसा तावीज या मन्त्र नहीं है जो बोलने मात्र से ही पाप-मुक्ति कर दे। पाप-मुक्ति के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द का उच्चारण ही पर्याप्त नहीं है। महत्वपूर्ण है इस शब्द के पीछे रही हुई भावना, इसके द्वारा व्यक्त होने वाला पश्चाताप। आचार्य भद्रबाहु ने 'मिच्छामि दुक्कडं' की बहुत सुन्दर व्याख्या की है।

'मि' त्ति मिउ–मद्दवत्तो, 'छ' त्ति दोसाण छादणे होई।

'मि' त्ति अमेराई ठिओ, 'दु' त्ति दु गंछामि अप्पाणं ।।
'क' त्ति कडं मे पावं, 'डं' त्ति डेवेमि तं उवसमेणं ।
एसो मिच्छा दुक्कड—पयक्खरत्थो समासेणं ।
मि का अर्थ मृदुता (कोमलता एवं अहंकार त्याग)
छा का अर्थ दोष छादन—दोषों का त्याग
मि अर्थात् मर्यादा का स्थिरीकरण
दु याने आत्मा को दुत्कार-फटकार
क याने कृत पापों की मन से स्वीकृति
ड का अर्थ है उन पापों का उपशमन

आचार्य भद्रबाहु कृत 'मिच्छामि दुक्कडं' की यह व्याख्या उस शब्द की भावना को भलिभांति व्यक्त करती है।

प्रश्न–७. जब 'ढाणाओ ठाणं संकामिया' अर्थात् एक जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाने में हिंसा है, तो रजोहरण द्वारा पूंजना उचित कैसे होगा ? क्योंकि इसके अन्तर्गत भी हम जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखते हैं ?

उत्तर– 'ठाणाओं ठाणं संकामिया' शब्दों का तात्पर्य दुर्बुद्धि या स्वार्थ से जीवों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाने का है। शास्त्रकारों ने इसमें हिंसा का उल्लेख किया है। किन्तु रजोहरण द्वारा पूंजने में आशय जीवों की दुर्बुद्धि से हटाने या उन्हें कष्ट देने का नहीं वरन् उनकी रक्षा करना का है साधक जीवों को पैर से कुचल कर दबने से बचाने के आशय से दया भाव से ही रजोहरण द्वारा पूंजने की क्रिया करता है न कि किसी दुर्भावना से।

● तस्स·उत्तरीकरण–सूत्र

तस्स उत्तरी करणेणं, पायच्छित करणेणं विसोही करणेणं विसल्ली करणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए, ठामि काउस्सग्गं ॥

अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलीए, पित्त-मुच्छाए। सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं, सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं एवमाइएहिं। आगारेहिं, अभग्गो, अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो। जाव अरिहंताणं, भगवंताणं, नमुक्कारेणं न पारेमि। तावकायं ठाणेणं मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि ॥

तस्स	—	उसकी (दूषित आत्मा की)
उत्तरी करणेणं	—	उत्कृष्टता के लिये
पायच्छित करणेणं	—	प्रायश्चित करने के लिये
विसोही करणेणं	—	विशुद्धि करने के लिये
विसल्ली करणेणं	—	शल्य रहित करने के लिये
[पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए]		
पावाणं	—	पाप
कम्माणं	—	कर्मों का
निग्घायणट्ठाए	—	नाश करने के लिये
ठामि	—	करता हूँ
काउस्सग्गं	—	कायोत्सर्ग
अन्नत्थ	—	इन क्रियाओं को छोड़ कर
ऊससिएणं	—	उच्छ्वास, ऊपर सांस लेने से
नीससिएणं	—	निःश्वास, सांस छोड़ने से

खासिएणं	—	खांसी आने से
छीएणं	—	छींक आने से
जंभाइएणं	—	जम्हाई आने से
उड्डुएणं	—	डकार आने से
वायनिसग्गेणं	—	अधोवायु निकलने से
भमलीए	—	चक्कर आने से
पित्त-मुच्छाए	—	पित्त के कारण मूर्च्छा से
सुहुमेहिं अंग संचालेहिं	—	सूक्ष्म रूप से अंग के संचालन से
सुहुमेहिं खेल संचालेहिं	—	सूक्ष्म रूप में कफ के संचार से
सहुमेहिं दिट्ठि संचालेहिं	—	सूक्ष्म रूप से नेत्र फड़कने से या दृष्टि का संचार होने से
एवमाइएहिं आगारेहिं	—	इस प्रकार के आगारों से
अभग्गो	—	अखण्ड
अविराहिओ	—	अविराधित
हुज्ज मे काउस्सग्गो	—	मेरा कायोत्सर्ग हो
जाव	—	जब तक
अरिहंताणं भगवंताणं	—	अरिहंत भगवान को
नमुक्कारेणं	—	नमस्कार करके
न पारेमि	—	(कायोत्सर्ग को) न पारूं
ताव	—	तब तक
कायं	—	शरीर को
ठाणेणं	—	स्थिर रख कर
मोणेणं	—	मौन रख कर
झाणेणं	—	ध्यान धर कर
अप्पाणं	—	आत्मा को
वोसिरामि	—	(पाप से) अलग करता हूं, छोड़ता हूं

पाप-निवृत्ति और प्रायश्चित पद्धति को आचार-पीठिका मिली है कायोत्सर्ग के रूप में । तस्स उत्तरी-सूत्र इसी कायोत्सर्ग की दार्शनिक पृष्ठ भूमि है इसमें साधक पाप क्रिया से आत्मा को पृथक् करने और इसे पवित्र बनाने के लिए समस्त पाप कर्मों को नष्ट करने के लिये कायोत्सर्ग करता है । प्रस्तुत सूत्र के द्वारा आत्मा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण करने के बावजूद भी शेष आत्मिक मलिनता एवं विषमता को दूर करने के लिये विशिष्ट परिष्कार के लिये कायोत्सर्ग की साधना करती है ।

सूत्र के अग्रभाग 'तस्स उत्तरी...........ठामि काउस्सग्गं' में कायोत्सर्ग के उद्देश्य बताये गये हैं। संस्कार (अशुद्धि निवारण) के तीन प्रकार बताये गये हैं—दोष मार्जन, हीनांगपूर्त्ति एवं अतिशयाधायक। प्रत्येक पदार्थ इन तीन संस्कारों से अपनी सत्य दशा में पहुँच पाता है। प्रथम दोष-मार्जन संस्कार, दोषों को दूर करता है। दूसरा हीनांगपूर्ति संस्कार (शेष दोषों को सर्वथा समाप्त करने) में हीनताओं को मिटा पूर्णता का प्रतिष्ठापन करता है। तीसरा संस्कार दोष रहित हुए पदार्थ में विशेष गुण उत्पन्न करता है। व्रत-शुद्धि के लिये भी ये तीन संस्कार माने गये हैं। आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा स्वीकृत व्रत के आलस्य व असमर्थतावश लगे दोषों, अतिचारों की विशुद्धि की जाती है। यह कार्य आलोचनासूत्र द्वारा किया जाता है। इसके बावजूद भी कुछ पाप मल शेष रह ही जाते हैं। कायोत्सर्ग द्वारा इन्हें भी दूर करने का प्रयास किया जाता है। यह संकल्प हम इस 'तस्स-उत्तारी' सूत्र के पाठ से करते हैं।

'अन्नत्थ...........दिट्ठिसंचालेहिं' में इस कायोत्सर्ग में लगने वाले दोषों के लिये कुछ आगार रखे गये हैं। यद्यपि कायोत्सर्ग का अर्थ ही शरीर की ओर से ध्यान हटा कर इसे पूर्णतया स्थिर कर आत्मिक प्रवृत्तियों में लगाना है। इसके द्वारा मन, वचन व शरीर में दृढ़ता का संचारण होता है, तथापि शरीर के कुछ व्यापार ऐसे हैं जिन्हें कि दृढ़ से दृढ़ साधक भी बन्द नहीं कर सकता। इन क्रियाओं से भी ध्यान में विक्षेप होता है। अतः इस विक्षेप के लिये व्रत व प्रतिज्ञा धारण करते समय इसमें कुछ आगार (छूटें) रखना आवश्यक है। एतदर्थ इन आगारों का उल्लेख किया गया है। ये सभी शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से सम्बन्धित है जो कि रोकी नहीं जा सकती।

'एवमाइएहिं आगारेहिं' शब्दों द्वारा इन शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त भी अन्य सम्भावित विशिष्ट कारणों के लिये छूट का विधान किया गया है, जैसे राजा द्वारा बल प्रयोग या देव द्वारा बल प्रयोग और जल, अग्नि आदि का उपद्रव।

'अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउसग्गो' द्वारा साधक यह स्पष्ट करता है कि इन उपर्युक्त क्रियाओं से जो कि मैंने आगार रूप में रखी हैं, ध्यान न तो टूटा हुआ ही माना जाय और न ही दूषित।

'जाव अरिहंताणं...........वोसिरामि' पाठ में साधक कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा स्वीकार करता है। साथ ही वह इस प्रतिज्ञा की समाप्ति के लिये भी शब्दों का उल्लेख करता है कि जब तक मैं 'नमो अरिहंताणं' न कहूँ

तव तक के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ और इसलिये मैं अपनी आत्मा को याने कषाय आत्मा को, पापों से अलग करता हूँ।

प्रश्न–१ इस सूत्र को बोलने का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर– मन, वचन और शरीर की चंचलता हटा कर हृदय में वीतराग देव की स्तुति का प्रवाह बहा कर (ध्यान में चिंतन द्वारा) अपने आपको अशुभ एवं चंचल संसारी प्रवृत्तियों से हटा कर, शुभ आत्मिक व्यापार में केन्द्रित कर, अपूर्व समभाव व दृढ़ता की प्राप्ति के लिये तथा पाप कर्मों के विनाश के लिये प्रयत्न करना ही इस सूत्र का मंगलमय पवित्र उद्देश्य है।

प्रश्न–२ कायोत्सर्ग क्या है ?

उत्तर– कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं—काय+उत्सर्ग। काय कहते हैं शरीर को और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग, छोड़ना। अतः कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ हुआ शरीर का त्याग। प्रश्न है कि शरीर त्याग तो भव समाप्ति के पूर्व नहीं किया जा सकता, जबकि हम कायोत्सर्ग तो अल्प समय के लिये करते हैं। तो क्या हम कायोत्सर्ग द्वारा शरीर छोड़ने की क्रिया करते हैं ? नहीं ऐसा समझना भ्रान्ति या भूल होगी। शरीर से यहां तात्पर्य शरीर की ममता से या शरीर की कुप्रवृतियों, आरम्भी-सांसारिक प्रवृत्तियों से है। कायोत्सर्ग में साधक इन सांसारिक, शारीरिक प्रवृत्तियों का त्याग कर अपने आपको आत्मिक सद्प्रवृत्तियों में संलग्न करता है।

प्रश्न–३ इस सूत्र में कायोत्सर्ग के कितने आगार रखे गये हैं ?

उत्तर– कायोत्सर्ग के १२ आगारों का उल्लेख है—उच्छ्वास १, निःश्वास २, खांसी ३, छींक ४, जम्भाई ५, डकार ६, अधोवायु ७, चक्कर ८, पित्त संचार ९, सूक्ष्म अंग संचालन १०, सूक्ष्म कफ संचार ११ एवं सूक्ष्म दृष्टि संचरण १२। ये सहज प्रवृत्तियां कायोत्सर्ग में आगार रूप होती है।

प्रश्न–४ इस पाठ का नाम उत्तरीकरण-सूत्र क्यों ?

उत्तर– इस पाठ में आत्मा को विशेष उत्कृष्ट बनाने के लिए कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा की जाती है, अतएव इस पाठ का नाम उत्तरीकरण-सूत्र रखा गया है।

प्रश्न–५ कायोत्सर्ग में आगार रखना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– इसका उत्तर विवेचन में पैरा नं० ३ में स्पष्ट किया गया है।

प्रश्न–६ कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा द्वारा साधक 'अप्पाणं वोसिरामि' अर्थात् 'आत्मा को वोसिराता हूँ' ऐसा उच्चारण करता है, यह कैसे ?

उत्तर– यद्यपि 'अप्पाणं वोसिरामि' का शाब्दिक अर्थ आत्मा को वोसिराना—छोड़ना है, पर यहां इसका सही आशय दूसरा है। आत्मा को छोड़ना कैसे सम्भव है ? प्रथम तो शरीर की यह शक्ति नहीं कि वह आत्मा को छोड़ दे, क्योंकि वह स्वयं आत्मा के अधीन है, आत्मा का चोला मात्र है। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि आत्मा को छोड़ा जा सकता है तो प्रश्न होगा कि आत्मा ही नहीं तो फिर इस शरीर में रह ही क्या जायेगा। ज्ञान, दर्शन व चारित्र का धनी पंछी तो उड़ गया फिर अवशेष पिंजरा मात्र क्या करेगा ?

स्पष्ट है कि 'अप्पाणं वोसिरामि' का ऐसा संकुचित आशय लगाना निरी भ्रान्ति है। आत्मा से यहां तात्पर्य पापमय आत्मा से, विकारों से या देह ममता से है। साधक इसको त्याग कर अपने आपको इनसे अलग कर सद्प्रवृत्तियों में, साधना मार्ग में लगा देता है। यही इसका सही अभिप्राय है।

प्रश्न–७ कायोत्सर्ग के क्या उद्देश्य हैं ?

उत्तर– इस सूत्र के अनुसार कायोत्सर्ग के पांच उद्देश्य बतलाये गये हैं जो निम्न हैं—

(१) आत्मा को उत्कृष्ट बनाना।
(२) प्रायश्चित करना।
(३) विशेष शुद्धि करना।
(४) आत्मा को शल्य रहित बनाना।
(५) पाप कर्मों का नाश करना।

□ □

● लोगस्स सूत्र-उक्कित्तणं सुत्तं

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥१॥
उसभमजियं च वंदे, सम्भवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वन्दे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एव मए अभिथुआ, विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा ।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसियंतु ॥५॥
कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहि-वरमुत्तमं दितु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवर गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

लोगस्स	—	लोक के
उज्जोयगरे	—	उद्योत करने वाले
धम्मतित्थयरे	—	धर्म तीर्थ के कर्त्ता
जिणे	—	राग द्वेष के विजेता
अरिहंते	—	अरिहंत
चउवीसंपि	—	चौवीसों
केवली	—	केवल ज्ञानियों का
कित्तइस्सं	—	कीर्तन स्तुति करूंगा
उसभं	—	ऋषभदेव को
च	—	और
अजियं	—	श्री अजीत को

वंदे — वन्दन करता हूँ
सम्भव — श्री सम्भवनाथ को
अभिणंदणं — श्री अभिनन्दन को
सुमइं — सुमतिनाथ को
पउमप्पहं — श्री पद्मप्रभ को
सुपासं — श्री सुपार्श्वनाथ को
चंदप्पहं — श्री चन्द्रप्रभ
जिणं — जिन को
वन्दे — वन्दना करता हूँ
सुविहिं — सुविधिनाथ को
च — और
पुप्फदंतं — पुष्पदन्त को
सीअल — शीतलनाथ को
सिज्जंस — श्रेयांसनाथ को
वासुपुज्जं — वासु पूज्य को
विमलं — विमलनाथ को
अणंतं — अनन्तनाथ को
च — और
जिणं — जिनेन्द्र
धम्मं — धर्मनाथ को
संतिं — शान्तिनाथ को
वन्दामि — वन्दना करता हूँ
कुंथुं — कुंथुनाथ को
अरं — अरनाथ को
मल्लि — मल्लिनाथ को
मुणिसुव्वयं — मुनि सुव्रत को
नमिजिणं — श्री नेमिनाथ जिन को
वंदे — वन्दना करता हूँ
रिट्ठनेमि — अरिष्टनेमि को
पासं — पार्श्वनाथ को
तह — तथा
वद्धमाणं — वर्द्धमान को
वंदामि — वन्दना करता हूँ
एवं — इस प्रकार
मए — मेरे द्वारा

ही उसका ध्यान प्रभु भक्ति की ओर जाता है और वह शुद्ध बुद्ध परमात्मा का स्मरण, चिन्तन व कीर्तन करता है। यह स्मरण, चिन्तन, कीर्तन का पुनीत कार्य प्रस्तुत चतुर्विंशतिस्तव द्वारा किया जाता है। इस सूत्र के द्वारा भक्त भगवान के प्रति अपने भक्ति भाव का प्रदर्शन करता है।

जैन समाज में इस सूत्र को याने लोगस्स को अत्यन्त श्रद्धा व महत्त्व का स्थान दिया गया है। यह भक्ति साहित्य की एक अमर एवं अलौकिक रचना है। भक्त साधक जब इसका पाठ करता है तो उसका हृदय भक्ति रस से आप्लावित हुए बिना नहीं रहता। वह अनुभूति निश्चय ही अलौकिक आनन्दयुक्त होती है जबकि भक्त अपने प्रभु की स्तुति में अपने आपको भूल कर उन्हीं के चरणों में समर्पित कर देता है।

लोगस्स-सूत्र में वर्तमान चौवीसी के चौवीस परम उपकारी वीतराग तीर्थङ्करों की स्तुति की गयी है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौवीसों तीर्थङ्कर हमारे इष्टदेव हैं। जिन्होंने विश्व को धर्म का मार्ग दिखलाया है अहिंसा और सत्य की राह दर्शायी, ज्ञान दर्शन की अनन्त ज्योति दिखलायी तथा इस संसार सागर से तिर कर उन्हीं के सम कर्ममुक्त हो, अपना कार्य सिद्ध करने की प्रेरणा दी। अतः हम पर उनका महान् उपकार है। इसलिये उनकी स्तुति करना और स्मरण करना हमारा कर्त्तव्य है।

महापुरुषों का स्मरण हमारे हृदय को पवित्र बनाता है। वासनाओं की अशान्ति को दूर कर अखण्ड आत्म-शान्ति का आनन्द देता है। भगवान का नाम सांसारिक लालसाओं एवं विषय-वासनाओं की अमोघ औषधि है। भगवान के नाम में अपार, असीम बल हैं। इसके द्वारा भक्त क्या प्राप्त नहीं कर सकता ?

भगवान का निष्ठापूर्वक नाम लेते ही हमारे सामने उनका दिव्य रूप, उनके अनन्त ज्ञानदर्शनादि गुण, प्राणीमात्र के कल्याण की करुण भावना व महत्ती दया आदि हमारे सामने प्रस्तुत हो जाती हैं। मन का कैमेरा जिस ओर अभिमुख होता है, तत्क्षण वैसे ही भाव-मानस पटल पर अंकित हो जाते हैं। वैश्या का नाम मन में विकारों की स्मृति कराता है तो सती का नाम लेते ही सदाचार की महिमा पर मस्तक स्वतः ही निष्ठा, श्रद्धा व पवित्र भावना से झुक जाता है। यदि पापियों का चिन्तन मन में पापों की रील प्रारम्भ कर देता है तो महापुरुषों का नाम स्मरण, उनकी स्तुति व कीर्तन भी मन को पवित्र बनाये बिना नहीं रह सकती। अतः भगवान के नाम को केवल जड़ अक्षरमाला ही समझना भ्रान्ति है। ये अक्षर द्रव्य

श्रु त द्वारा भावश्रु त जगाने का कारण है। इन चंद अक्षरों में अखूट कर्म क्षय करने की शक्ति छिपी है।

सूत्रकार ने लोगस्स का प्रारम्भ ही भगवान की विशेषताओं से किया है। प्रथम गाथा में, उसने यह प्रकट करते हुए कि मैं चौवीस ही केवली भगवान की स्तुति करता हूँ, उन्हें चार विशेषणों से सम्बोधित किया है—

(१) लोक में उद्योत करने वाले
(२) धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले
(३) जिन और
(४) अरिहंत।

१. तीर्थंकर भगवान अज्ञान अन्धकार से आच्छन्न विश्व में अपनी ज्ञानप्रभायुक्त किरणों से दिव्य प्रकाश करने वाले हैं। सूर्य धराधाम पर भौतिक प्रकाश करता है। वैसे तीर्थंकर भगवान आध्यात्मिक गगन के दिव्य सूर्य हैं। जब धरा मण्डल पर उनका जन्म होता है और वे साधना द्वारा स्वयं केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की प्राप्ति कर इसका अलौकिक प्रकाश यत्र-तत्र बिखेरते हैं तो मिथ्यात्व व अज्ञान का अन्धकार यहां टिक भी नहीं पाता।

२. तीर्थंकर भगवान धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं। तीर्थ का अर्थ है—जिसके द्वारा तिरा जाय। तीर्थ के साथ यदि धर्म को जोड़ दिया जाय तो तात्पर्य होगा—ऐसा धर्म जिसके द्वारा संसार सागर से तिरा जाय। ऐसा धर्म ही सच्चा तीर्थ है। चौवीस ही तीर्थंकर अपने-अपने समय में धर्म तीर्थ की स्थापना करते हैं। समय के प्रभाव से धर्म में जो विक्षेप एवं कमजोरी आ जाती है उसे दूर कर पुनः धर्म की प्रभावना करते हैं। तीर्थ की स्थापना के कारण ही वे तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर भगवान चार तीर्थ के माध्यम से धर्म की स्थापना करते हैं। ये चार तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका।

३. तीर्थंकर भगवान को 'जिन' विशेषण से सम्वोधित किया गया है। 'जिन' का अर्थ है विजेता। प्रश्न है किस पर विजय? विजय शत्रुओं पर हासिल की जाती है। राग, द्वेषादि, कषाय एवं अष्ट कर्म ही आत्मा के शत्रु हैं। इन कषायों, विकारों एवं कर्मों पर विजय दिलाने वाला ही सच्चा विजेता है तथा यह विजय ही सच्ची विजय है। इनको जीतने से ही आत्मा जिन कहलाती है।

४. चौवीस भगवान की जो चौथी विशेषता बताई गयी है वह है अरिहंत। अरिहंत का अर्थ है शत्रुओं का हंता। केवली भगवान घाती कर्मादि आत्मिक शत्रुओं का नाश करने वाले हैं अतः वे अरिहंत कहलाते हैं।

प्रथम गाथा में भगवान के गुण दर्शाकर सूत्रकार ने द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ गाथा में चौवीस ही तीर्थंकर भगवान के नामों का उल्लेख किया है। इसमें सभी तीर्थंकरों के एक-एक नाम का ही उल्लेख है पर नवमें सुविधिनाथजी के एक द्वितीय नाम पुष्पदंत का भी उल्लेख है। चरम तीर्थंकर महावीर का यहाँ वर्द्धमान नाम दिया है।

गाथाओं में भक्त पुनः भगवान की गुण-पूजा करता है तथा यह कामना अभिव्यक्त करता है कि ऐसे जो जिनवर हैं वे मुझ पर प्रसन्न होवें, तथा मोक्ष प्रदान करें।

अगली गाथाओं में भगवान की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, वे निम्न हैं—

५. **विहुयरयमला**—आत्मा अनन्त ज्ञान के प्रकाश से आलोकित है। पर इस पर पाप मल लगा हुआ है जिससे इसकी तह में विद्यमान ज्ञान ज्योति हमें दिखायी नहीं देती। तीर्थंकर भगवान इस पाप मल से रहित हैं अतः उन्होंने अपना स्व स्वरूप प्रकट कर लिया है।

६. **पहीणजरमरणा**—विश्व में सबसे बड़े भय दो हैं—जरा और मृत्यु। यह भय उन्हीं को है जिनके अभी कर्म शेष हैं। केवली भगवान सिद्ध होकर इन कर्म बन्धनों से मुक्त हैं, अतः स्वतः ही वे इस जरा व मृत्यु के रोग से मुक्त हैं। वे न तो कभी वृद्ध होते हैं और न ही उन्हें अब कभी मरना है। वे इस जन्म-मरण के चक्र से परे हो गये हैं।

७. **लोगस्स उत्तमा**—चौवीस ही तीर्थंकर लोक में उत्तम हैं। वे मानवों में श्रेष्ठ व ज्येष्ठ हैं। लोक में उनकी बराबरी और कोई नहीं कर सकता।

८. **कित्तिय वंदिय महिया**—तीर्थंकर भगवान मेरे द्वारा कीर्तित, वंदित व पूजित हैं। अर्थात् मैं उनका कीर्तन, वंदन व पूजन करता हूँ। मन से उनके नाम व गुणों का स्मरण कीर्तन है। मुख से याने वचन से उनके नाम एवं गुणों का स्मरण वंदन है तथा उन्हें पूज्य, स्मरणीय व स्तवनीय मान कर पंचांग नमा कर नमस्कार करना पूजन है। पूजन से यहां तात्पर्य द्रव्य पूजा से नहीं वरन् भाव पूजा से है। यहां द्रव्य पुष्पों की आवश्यकता नहीं क्योंकि वे सजीव हैं वरन् सद्‌भाव रूप गुण पुष्पों की आवश्यकता है। हमारे देव

वीतराग एवं निरंजन हैं तो उनकी पूजा भी कितनी शुद्ध, भावमयी व आदर्श है। जरा इसकी झांकी तो देखिये—

'ध्यान धूप मन पुष्पं, पंचेन्द्रिय हुताशनं।
क्षमा जाप संतोष पूजा, पूजो देव निरंजनं ॥'

९. **चंदेसुनिम्मलयरा**—तीर्थंकर भगवान चंद्र से भी अधिक निर्मल है। उनकी कीर्ति भव्य जीवों को चंद्र किरणों से भी अधिक सुखद है। चन्द्र की धवल प्रभा में तो कालिमा का दाग है पर भगवान का निर्मल ज्ञान प्रकाश पूर्ण है, उस पर किसी प्रकार की कालिमा का आवरण नहीं है।

१०. **आइच्चेसु अहियं पयासयरा**—तीर्थंकर भगवान सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं। सूर्य तो द्रव्य अन्धकार को ही दूर करने में समर्थ है जिसमें भी उसके प्रकाश पर कभी ग्रहण भी लग सकता है। पर केवली महाप्रभु विश्व से अज्ञान तिमिर को हटा कर ज्ञान के दिव्य प्रभाव से समूचे लोक को आलोकित करने वाले हैं। उनका ज्ञान प्रकाश असीम व अव्याबाध है।

११. **सागरवर गंभीरा**—तीर्थंकर भगवान् सागरवत् गम्भीर हैं। जिस प्रकार सागर (समुद्र) में अनेकानेक नदी, नाले आदि मिलते हैं फिर भी उसमें से पानी नहीं छलकता इसी प्रकार भगवान के भी अनुकूल प्रतिकूल कितने ही परिषह क्यों न आने पर वे किंचित् मात्र भी चलायमान नहीं होते हैं। जैसे भगवान महावीर ने चन्द्रकौशिक, संगमदेव, गो शालक आदि के महान उपसर्गों को सहन किया था।

प्रभु-स्तुति के साथ ही साथ साधक कुछ कामनाएं अभिव्यक्त करता है।

१. **तित्थयरा मे पसीयंतु**—भक्त यह प्रार्थना करता है कि ऐसे तीर्थंकर देवाधिदेव मेरे पर प्रसन्न हों। यद्यपि तीर्थंकर भगवान राग-द्वेष से रहित हैं अतः उनके किसी पर प्रसन्न या अप्रसन्न होने का सवाल ही नहीं उठता; तथापि ऐसी प्रार्थना की गई है। यह औपचारिकता है। इससे हममें सत्-कर्म साधन की योग्यता आती है और हममें यह योग्यता आना ही तीर्थंकरों का प्रसन्न होना माना गया है।

२. **आरुग्ग**—याने रोग रहित होना। रोग दो प्रकार के होते हैं। एक द्रव्य रोग और दूसरा भाव रोग। ज्वरादि द्रव्य रोग हैं। कर्म ही भाव रोग है जिससे समूचा संसार संत्रस्त है। भक्त भगवान से 'आरुग्ग-दितु' कह कर कर्म रोग से मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा अभिव्यक्त करता है। द्रव्य रोग जो कर्म रोग के कारण उत्पन्न होते हैं, कर्म रोग के समाप्त होने पर स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

३. बोहिलाभं दितु—भक्त भगवान के समक्ष धर्म प्राप्ति के लाभ से लाभान्वित होने की अभिलाषा अभिव्यक्त करता है। सच्चा साधक किसी भौतिक सामग्री की नहीं वरन् धर्म जैसी अमूल्य आत्मिक पदार्थ की ही इच्छा करता है। उसे चाह है तो धर्म की। भगवान की स्तुति कर उनसे सांसारिक सुख सम्पत्ति व ऐश्वर्य की अभिलाषा करना भगवान की भक्ति नहीं वरन् एक सौदा मात्र है। सच्चा भक्त ऐसा कभी नहीं करता।

४. समाहिवर मुत्तमं दितु—फिर भक्त उत्तम समाधि की इच्छा अभिव्यक्त करता है। समाधि का सामान्य आशय चित्त की एकाग्रता से है। जब साधक का हृदय इतस्ततः के विक्षेपों से परे हो, अपनी स्वीकृत साधना के प्रति एक रूप हो वासना, विकारों व कषायों का भान ही भूल जाय तो यही सच्ची समाधि है। यह उच्च दशा की प्राप्ति मनुष्य का अभ्युदय कर अंतरात्मा को पवित्र बनाती है। प्रभु के चरणों में अपनी साधना के प्रति सर्वथा उत्तरदायित्वपूर्ण रहने की मांग कितनी अधिक सुन्दर है! कितनी अधिक भावभरी है!

५. सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु—हम सब का अंतिम उद्देश्य सिद्धि प्राप्ति है। अतः भक्त अन्त में यह अनुनय करता है कि सिद्ध प्रभु मुझे सिद्धि प्रदान करें। यद्यपि प्रभु स्वयं कुछ देते-लेते नहीं हैं तथा न ही सिद्धि देने-लेने की वस्तु है पर भक्ति की भाषा में ऐसा कह कर भक्त अपनी अटूट श्रद्धा व अपूर्व निष्ठा अभिव्यक्त करता है। सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें, ऐसा आशय लेने की अपेक्षा यह आशय अधिक युक्तिसंगत होगा कि सिद्धों के आलम्बन से मुझे सिद्धि प्राप्त हो।

प्रश्न–१ इस पाठ का दूसरा नाम क्या है और क्यों ?

उत्तर इस पाठ का दूसरा नाम चतुर्विंशतिस्तव है क्योंकि इसमें चौबीस तीर्थंकर भगवान की स्तुति की गयी है।

प्रश्न–२ प्रस्तुत सूत्र में 'महिया' शब्द आता है जिसका अर्थ है पूजित; तीर्थंकर भगवान किस प्रकार पूजित हैं ? क्या पुष्पों द्वारा उनका पूजन होता है।

उत्तर उपर्युक्त वर्णित 'महिया' पद से द्रव्य पूजन का आशय नहीं है। तीर्थंकर तो देवाधिदेव हैं। सामान्य मुनिराज के सम्मुख जाते हुए भी पांच अभिगम पालन करने का विधान है, जिनमें से प्रथम सचित्त त्याग बताया है। फिर तीर्थंकर तो विशिष्टतम साधु हैं। वे तो अहिंसा के अवतार हैं, उनके लिए पुष्प-पूजन का सवाल ही शेष नहीं रहता। जैसा देव हो वैसा ही पूजन किया जाता है जिसको जिस वस्तु से अत्यधिक प्रेम हो, उसको वही वस्तु भेंट

की जाती है। भगवान को तो आत्मिक गुण ही प्रिय हैं। उनका समूचा जीवन ही इनके विकास के लिये समर्पित होता है; देखिये आचार्य हरिभद्र ने भगवान वीतराग के चरणों में कैसे सुन्दर पुष्प समर्पित किये हैं—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता।
गुरुभक्तिस्तपोज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते॥'

देव-पूजा का सच्चा स्वरूप निम्न पद में दृष्टव्य है—

'ध्यान धूपं मन पुष्पं, पंचेन्द्रिय हुताशनं।
क्षमा जाप सन्तोष पूजा, पूजो देव निरंजन॥

भक्त हृदय कवि ने अपने आराध्य की अर्चना हेतु कितने अलौकिक आत्मीय अनुभूतिदायक गुण पुष्पों का चयन किया है।

प्रश्न–३ तीर्थंकर भगवान अरिहंत हैं। प्रस्तुत सूत्र में उन्हें सिद्ध क्यों कहा?

उत्तर जो भूत पर्याय के तीर्थंकर थे वर्तमान में वे सिद्धगति को प्राप्त कर चुके हैं अपने समय विशेष की दृष्टि से भी वे चार घनघाती कर्मों का क्षय कर चुके होते हैं। अतः शेष चार अघाती कर्म उनके लिए बाधा रूप नहीं होते। चार घनघाती कर्मों का क्षय होते ही उनका संसार समाप्त प्रायः सा होता है, इस प्रकार भावी सिद्धत्व का वर्तमान में उपचार करके भी कहा जा सकता है। अतः उन्हें सिद्ध कहना अयुक्तिसंगत नहीं कहा जाता।



सामायिक प्रतिज्ञा-सूत्र

करेमि भंते । सामाइयं, सावज्जं जोगं, पच्चक्खामि । जाव नियमं पज्जुवासामि । दुविहं तिविहेणं । न करेमि, न कारवेमि । मणसा वयसा कायसा । तस्स भंते । पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥

भंते	—	हे भगवन् !
सामाइयं	—	सामायिक
करेमि	—	करता हूँ
सावज्जं	—	सावद्य-पापकारी
जोगं	—	व्यापार को
पच्चक्खामि	—	त्याग करता हूँ।
जाव	—	जब तक
नियमं	—	(सामायिक के) नियम का
पज्जुवासामि	—	पालन करूं
दुविहं तिविहेणं	—	दो करण, तीन योग से
न करेमि	—	स्वयं करूं नहीं
न कारवेमि	—	दूसरों से कराऊँ नहीं
मणसा	—	मन से
वयसा	—	वचन से
कायसा	—	काया से
तस्स	—	उसका; अतीत में कृत पापों का
भंते	—	हे भगवन् !
पडिक्कमामि	—	प्रतिक्रमण करता हूँ
निंदामि	—	निंदा करता हूँ
गरिहामि	—	गर्हा—आपकी साक्षी से निंदा करता हूँ
अप्पाणं	—	अपनी आत्मा को
वोसिरामि	—	वोसिराता हूँ, पाप से अलग करता हूँ।

इरियावहियं-सूत्र द्वारा आलोचना, तस्स उत्तरी-सूत्र से विशिष्ट शुद्धि व लोगस्स द्वारा भगवत् स्तुति करके साधक जब अपनी आत्म भूमि को राग-द्वेष रहित समतल, साधना योग्य बना लेता है, तब वह आध्यात्मिक साधना का इस प्रस्तुत सूत्र द्वारा बीजारोपण करता है।

सामायिक ग्रहण करने का पाठ यों तो बहुत संक्षिप्त है, पर उसकी पूर्व भूमिका में जो अन्य चार पाठ आये हैं उनसे सूचित होता है कि साधक आत्मा को पवित्र बना कर, विषम कषाय की ज्वाला को शांत कर इस व्रत की ओर अग्रसर होता है। वैदिक विधि-विधानों में धर्मक्रिया के पहले बाह्य शारीरिक शुद्धि को प्रमुख स्थान दिया है। उसको वहाँ इतना अधिक महत्त्व मिल गया है कि आगे चल कर वही धार्मिक क्रिया का एक अंग बन गया और धर्म का मूल स्वरूप ओझल हो गया है। पर यहाँ सामायिक साधना में आरम्भ से ही शारीरिक शुद्धि को विशेष महत्त्व न देकर मानसिक पवित्रता पर अधिक बल दिया गया है। यही कारण है कि साधक इरियावहियं, तस्सउत्तरी, लोगस्स आदि सूत्रों द्वारा आत्मा की मलिनता को धोकर, पापकारी प्रवृत्तियों से पीछे हट कर प्रतिज्ञा करता है कि मैं सब सावद्य योगों का त्याग करके सामायिक व्रत अंगीकार करता हूं, जब तक इस नियम की प्रतिज्ञा का पालन करूंगा, तब तक न तो मैं स्वयं मन, वचन, काया से पाप में प्रवृत्त होऊंगा, न अन्य किसी से मन, वचन, काया द्वारा पाप कर्म कराऊंगा। यह व्रत ग्रहण सांस्कृतिक, नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसा बीज हो और उसे जिस रूप में डाला जाय, वैसा ही कृषि का परिणाम आगे आने की सम्भावना रहती है।

यहां भी साधक त्याग व साधना के इन बीजों को किस प्रकार डालता है, यह द्रष्टव्य है। इसके लिये हमें प्रस्तुत सूत्र की आत्मा को टटोलना होगा, इसकी गहराइयों में झांकना होगा।

सर्व प्रथम साधक 'करेमि भंते सामाइयं' शब्दों द्वारा भगवान व गुरु महाराज के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करता है। भगवान शब्द कितनी भाव-भक्ति से भीना है। इसका तात्पर्य है कि आप सुखदाता हो, कल्याणकारी हो, भव या भय का नाश करने वाले हो।

आगे के 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' इन शब्दों में सामायिक का आशय निहित है। सामायिक में साधक क्या करता है? सावद्य योग का त्याग। सावद्य योग का त्याग ही तो सामायिक है। करेमि भंते के पाठ में 'सावज्जं' शब्द केन्द्रीय शब्द है। पूरे पाठ का सार इस एक शब्द के पीछे निहित है। सावद्य में दो शब्द हैं—स+अवद्य। स याने सहित और अवद्य

याने पाप। अर्थात् सावद्य का अर्थ हुआ सपाप। जो भी कार्य सपाप है, पाप क्रिया का बंध कराने वाला हो, आत्मा का पतन करने वाला है, साधक के लिये सामायिक में उन सब का त्याग आवश्यक है पर ध्यान रहे कि त्याग पापकारी कार्यों का है न कि जीव रक्षादि निर्दोष कार्यों का।

'सावज्जं' का एक दूसरा रूपान्तर है सावर्ज्य अर्थात् वे कार्य जो निन्दनीय हों। अतः साधक सामायिक में उन्हीं कार्यों का त्याग करता है जो निन्दनीय हैं। आत्मा को मलिन बनाने, निन्दित करने वाले कार्य कषाय हैं; अन्य कोई नहीं। अतः साधक सामायिक में उन कार्यों का जिनके मूल में कषाय भावना निहित है, त्याग करता है। सामायिक में इन कषायों का त्याग, सामायिक दशा को प्राप्त करने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

'जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा' आदि शब्द सामायिक की प्रतिज्ञा में किये गये त्याग की अवधि व सीमा के परिचायक हैं। हम यहां जिस सामायिक की बात कर रहे हैं, वह श्रावक की देशविरति सामायिक है न कि श्रमण की सर्वविरति सामायिक। श्रावक को सावद्ययोग का त्याग तभी तक है जब तक कि उसके नियम है। पर इसका यह तात्पर्य तो कदापि नहीं समझना चाहिए कि नियम की अवधि के उपरांत वह पाप कार्य करने को उन्मुक्त है। सामायिक शब्द का आशय व उद्देश्य संकीर्ण नहीं है। यह तो एक विस्तृत साधना है। जीवन में, दैनिक व्यवहार में समत्व की प्राप्ति ही इस साधना का उद्देश्य है, यह सामायिक के साधकों को स्पष्ट कर लेना चाहिये।

श्रावक की सामायिक छः कोटि के त्याग वाली है। अर्थात् वह दो करण तीन योग से त्याग करता है। उसे मन, वचन व काया से पाप करने व कराने का त्याग है। अनुमोदन का श्रावक को त्याग नहीं है। मानव-मानस में प्रश्न उठ सकता है कि भला वह कैसी साधना है जिसमें साधक को पापकारी कार्यों के समर्थन, अनुमोदन की छूट है। यह साधना है या साधना का उपहास है। श्रमण निर्ग्रन्थों ने स्पष्ट किया—अय भोले साधकों ! यहां अनुमोदन को त्याग से अलग रखना किसी छूट की लिहाज से नहीं, वरन् प्रतिज्ञा संरक्षण की दृष्टि से है। श्रावक यद्यपि साधना पथ का पथिक है तथापि वह गृहस्थ की भूमिका का प्राणी है। सामायिक में यद्यपि वह सावद्य योग का त्याग करता है पर ममता का सूक्ष्म तार जो आत्मा से बंधा रहता है, वह अभी नहीं कट पाया। इसलिये सामायिक की प्रतिज्ञा में अनुमोदन का भाग खुला रखा गया है। इसका कोई विपरीत आशय लेना भूल भरा होगा।

'तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि' वाक्यांश में साधक अपने द्वारा पूर्वकृत पापों की निन्दा, आलोचना व गर्हा करता है। निन्दा स्वयं की या औरों की नहीं वरन् पापों की करनी है। कवि ने भी कहा है— 'घृणा पाप से नहीं पापी से'। दोषों की, पापाचरण की निन्दा करने से साधक अपने कर्मों की महान् निर्जरा करता है व आत्म शुद्धि की ओर एक कदम और सन्निकट पहुँचता है। कषाय व पाप आत्मा के अपने निजगुण नही वरन् पर गुण हैं, दोष हैं। ये आत्मा को स्वभाव दशा से विभाव दशा में ले जाने का दुष्कार्य करते हैं। जो अपना स्वगुण नहीं वरन् पर गुण है, विरोधी है तथा अपने घर पर अधिकार किये बैठा है, उस कषाय परिणति की जितनी निंदा करें, उतनी ही थोड़ी है। श्रमण भगवान महावीर ने स्वयं कहा है—

'आत्म-दोषों की निन्दा करने से पश्चाताप का भाव जागृत होता है, पश्चाताप के द्वारा विषय–वासना के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न होता है और ज्यों-ज्यों वैराग्य भाव का विकास होता है, त्यों-त्यों साधक सदाचार की गुण श्रेणियों पर आरोहण करता है और जब गुण श्रेणियों पर आरोहण करता है तब मोहनीय कर्म का नाश करने में समर्थ हो जाता है। मोहनीय कर्म का नाश होते ही आत्मा शुद्ध, बुद्ध, परमात्म-दशा पर पहुंच जाती है।'

जैन दर्शन ने साधक को निन्दा के साथ ही गर्हा की एक अन्य अनुपम भेंट प्रदान की है। आत्म-शोधन के लिये गर्हा बहुत महत्त्वपूर्ण है, जहां निन्दा में साधक स्वयं एकांत में बैठ कर अपने पापों की निन्दा करता है, दूसरों के सम्मुख अपने पापों को प्रकट नहीं करता, वहां गर्हा में साधक (वह) गुरु के चरणों में आकर उनकी साक्षी से भी अपने पापों की आलोचना करता है। वह अपने पापों की गठरी गुरुदेव के चरणों में खोल देता है। गर्हा कोई आत्मबल का धनी व्यक्ति ही कर सकता है। प्रतिष्ठा–अप्रतिष्ठा का ख्याल छोड़ सकने वाला व्यक्ति ही इसमें सक्षम हो सकता है। भगवान महावीर के अनुयायियों के मन में 'छिपाव' नाम की कोई चीज नहीं होनी चाहिये। अपने दोषों को प्रकट करना भय का नहीं वरन् साहस का, लज्जा का नहीं वरन् स्वाभिमान का कार्य है।

अन्त में साधक आत्मनिंदा व गर्हा के बाद यह भावना अभिव्यक्त करता है कि वह 'अप्पाणं वोसिरामि' याने अपनी आत्मा को अपने आपको त्यागता है। यह कैसे? इसका स्पष्टीकरण हम तस्स उत्तरी-सूत्र के संदर्भ में कर चुके हैं। यहां इतना समझना ही पर्याप्त है कि यहाँ 'अप्पाणं वोसिरामि' से अभिप्राय अपने पूर्व के दूषित जीवन को छोड़ने से है।

प्रश्न–१ सामायिक में किस बात का त्याग किया जाता है ?

उत्तर– प्रश्न का उत्तर तो सूत्र में ही सन्निहित है। फिर भी 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' शब्दों द्वारा सुस्पष्ट किया जाता है कि सामायिक में हम सावद्य योग यानी पापकारी व निन्दनीय कार्यों का त्याग करते हैं।

प्रश्न–२ श्रावक की सामायिक कितनी कोटि से होती है ? क्या इस सम्बन्ध में कोई अन्य मत भी है ?

उत्तर– श्रावक की सामायिक ६ कोटि (२ करण ३ योग) से होती है। इस सम्बन्ध में कहीं-कहीं ८ कोटि का भी उल्लेख किया गया है, पर यह ८ कोटि का भंग समझ में नहीं आता। ४९ भांगों में ऐसा एक भी भंग नहीं है जिसका ८ कोटि के साथ साम्य बैठ सके। ६ कोटि सामायिक का मत ही मान्य तथा तर्क संगत है।

प्रश्न–३ 'जावनियमं' का अर्थ है जब तक मेरे नियम है तब तक, फिर यह ४८ मिनट का विधान क्यों ? यह अवधि सामायिक करने वाले की इच्छा पर क्यों नहीं ?

उत्तर– जावनियमं के बीच सामायिक लेने वाले को मुहूर्त का उल्लेख करना होता है। एक मुहुर्त ४८ मिनट का होता है। हम छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ की किसी एक विषय पर स्थिरता की उत्कृष्ट अवधि एक मुहुर्त मानी गयी है। अतः सामायिक रूप साधना का समय ४८ मिनट से अधिक नहीं रखा गया। यदि किसी को अधिक समय भी साधना करना हो तो वह वैसे ही मुहुर्त्त की संख्या बोल कर एक से अधिक मुहुर्त्त तक सामायिक कर सकता है।

हम साधना पंथ के राही हैं। हमारा उद्देश्य उत्कृष्ट स्थिरता प्राप्त करना है अतः सामायिक का समय कम से कम ४८ मिनट रखा गया है। ताकि साधक यह अनुभव कर सके कि मैं इतना आगे बढ़ा और इतना बढ़ना है।

प्रश्न–४ योग किसे कहते हैं तथा ये कितने हैं ?

उत्तर– योग क्रिया के साधन हैं। जिनके द्वारा आत्मा क्रिया में जुड़ती है वे मन, वाणी व काय के व्यापार योग कहलाते हैं।

प्रश्न–५ करण किसे कहते हैं तथा ये कौन-कौन से हैं ?

उत्तर– क्रिया के रूप या प्रकार को करण कहते हैं। योग द्वारा जितने रूपों में क्रिया की जा सकती है, वे रूप ही करण कहलाते हैं—ये तीन होते हैं, जैसे—करना, करवाना तथा अनुमोदन करना।



● शक्रस्तव–प्रणिपात–सूत्र

नमोत्थुणं, अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिस-वर-पुंडरीयाणं, पुरिसवर-गंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं, लोग-नाहाणं, लोगहियाणं, लोगपईवाणं लोग-पज्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्म-सारहीणं, धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं, दीवोताणं-सरणं-गइ-पइट्ठा, अप्पडिहय-वर-नाणं-दंसणधराणं, विअट्टछउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं, तार-याणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्व-न्नूणं, सव्वदरिसीणं, सिव्वमयलमरुयमणंत-मक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति - सिद्धिगइ - नामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमो जिणाणं जियभयाणं ॥

नमोत्थुणं	—	नमस्कार हो
अरिहंताणं	—	अरिहंतों को
भगवंताणं	—	भगवान को
आइगराणं	—	धर्म की आदि करने वाले
तित्थयराणं	—	धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले
सयं-संबुद्धाणं	—	बिना गुरु के स्वयं बोध पाने वाले
पुरिसुत्तमाणं	—	पुरुषों में श्रेष्ठ
पुरिससीहाणं	—	पुरुषों में सिंह के समान
पुरिसवर गंधहत्थीणं	—	पुरुषों में श्रेष्ठ गंध हस्ती के समान
पुरिसवर पुंडरीयाणं	—	पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान

लोगुत्तमाणं	—	लोक में उत्तम
लोगनाहाणं	—	लोक के नाथ
लोगहियाणं	—	लोक के हितकारी
लोगपईवाणं	—	लोक में प्रकाशमान–दीपक के समान
लोगपज्जोयगराणं	—	लोक में उद्योत करने वाले
अभयदयाणं	—	अभय देने वाले
चक्खुदयाणं	—	ज्ञानरूप नेत्र देने वाले
मग्गदयाणं	—	मोक्ष मार्ग के प्रदाता
सरणदयाणं	—	शरणदाता
जीवदयाणं	—	संयम रूप जीवन के दाता
बोहिदयाणं	—	बोधि याने सम्यक्त्व के दाता
धम्मदयाणं	—	धर्म के दाता
धम्मदेसयाणं	—	धर्म के उपदेशक
धम्मनायगाणं	—	धर्म के नायक
धम्मसारहीणं	—	धर्म के सारथि
चाउरंत	—	चार गति का अंत करने वाले
धम्मवर	—	धर्म के श्रेष्ठ
चक्कवट्टीणं	—	चक्रवर्ती
दीवोताणं	—	समुद्र में द्वीप के समान
सरणं-गइ-पइट्ठा	—	शरण देने वाला
अप्पडिहय	—	अप्रतिहत, निर्बाध
वर नाणदंसण धराणं	—	श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के धारक
विअट्टछउमाणं	—	छद्मभाव से रहित
जिणाणं, जावयाणं	—	राग द्वेष के विजेता, दूसरों को जिताने वाले
तिन्नाणं, तारयाणं	—	स्वयं तिरने वाले, दूसरों को तिराने वाले
बुद्धाणं, बोहयाणं	—	स्वयं बोध प्राप्त, दूसरों को बोध देने वाले
मुत्ताणं, मोयगाणं	—	स्वयं मुक्त, दूसरों को मुक्त करने वाले
सव्वन्नूणं	—	सर्वज्ञ
सव्वदरिसीणं	—	सर्वदर्शी
सिवं	—	उपद्रव रहित
अयलं	—	अचल, स्थिर
अरुयं	—	रोग रहित
अणंतं	—	अन्त रहित

अव्वखय	—	अक्षय, नाश रहित
अव्वाबाहं	—	अव्याबाध, बाधा रहित
अपुणराविति	—	पुनरागमन से रहित
सिद्धिगइ	—	सिद्धि गति
नामधेयं	—	नामक
ठाणं	—	स्थान को
संपत्ताणं	—	जिन्होंने प्राप्त कर लिया है
नमो	—	नमस्कार हो
जियभयाणं	—	भय को जीतने वाले
जिणाणं	—	जिन भगवान को
ठाणं संपाविउ कामाणं	—	स्थान को प्राप्त करने वाले (दूसरे नमोत्थुणं में)

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'। मोक्ष मार्ग के तीन अंग हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र। वैदिक ग्रन्थों में इन्हें भक्ति योग, ज्ञानयोग व कर्मयोग से पुकारा गया है। सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिये साधक के हृदय में सम्यग्दर्शन याने श्रद्धा का अंकुरित होना आवश्यक है। श्रद्धाशून्य हृदय में ज्ञान व चारित्र के कल्पवृक्ष पल्लवित नहीं हो सकते। इसलिये श्रद्धा पर शास्त्रों में अत्यधिक बल दिया गया है। भगवान के प्रति श्रद्धा जागृत होती है उनकी भक्ति से। सच्चा भक्त साधक ही प्रभु के चरणों में अपने आपको समर्पित कर आगे की साधना कर सकता है। भक्ति का महत्त्व सामायिक के पाठों के क्रम से भी स्पष्ट है। सर्वप्रथम नमस्कार मंत्र, सम्यक्त्व-सूत्र व गुरु वंदन-सूत्र ये तीनों सूत्र भक्तियोग के परिचायक हैं। फिर आलोचना व कायोत्सर्ग के पश्चात् लोगस्स पुनः भक्ति सूत्र है। इस प्रकार भक्त भगवान के चरणों में नतमस्तक हो, अपनी इच्छा भगवान के चरणों में अर्पित कर व्रत ग्रहण करता है। पूर्ण संयम का महान् कल्पवृक्ष सामायिक के बीज में ही छिपा है। यदि यह बीज सुरक्षित रह कर अंकुरित, पल्लवित व पुष्पित होता रहे तो एक दिन अवश्य ही मुक्ति का अमर फल प्रदान कर सकेगा। इसी भक्ति भावना व सामायिक के अमृत बीज का सिंचन करने के लिये अन्त में पुनः भक्तियोग का अवलम्बन लिया जाता है। यह कार्य शक्रस्तव द्वारा सम्पन्न किया गया है।

नमोत्थुणं में मुख्य रूप से तीर्थंकर भगवान की स्तुति की गयी है। इस सूत्र में तीर्थंकर भगवान के विश्वहितकर निर्मल आदर्श गुणों का अत्यन्त सुन्दर ढंग से परिचय दिया गया है। तिर्थंकर भगवान की स्तुति के साथ ही साथ उनके महान विशिष्ट सद्गुणों का वर्णन नमोत्थुणं की एक ऐसी निजी

विशेषता है जो अन्य सूत्रों में नहीं है। नमोत्थुणं इस बात का परिचायक है कि गुणी की पूजा उसके गुणों के कारण है न कि लिंग, जाति, वय, वेश या जन्म के कारण। नमोत्थुणं का आनन्द तो इसके शब्दों में ही सन्निहित है। जरा हम भी ध्यानपूर्वक इस आनन्द की अनुभूति करें।

इसमें प्रथम शब्द 'नमोत्थुणं' नमस्कार का सूचक है। बाकी अन्य पद ये बताते हैं कि नमस्कार किनको? मैं जिन्हें नमस्कार करूं उनका स्वरूप क्या है? उनके गुण क्या हैं? ये प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं।

१. **अरिहंताणं** (अरिहंत) तीर्थंकर भगवान ने अपने कर्म, कषाय व विकार जो आत्म गुणों की हानि करने वाले लुटेरू हैं उन पर विजय प्राप्त कर ली है, अन्तर के दोषों को समूल नष्ट कर दिया है, अतः वे अरिहंत हैं। अरिहंत का अधिक स्पष्टीकरण नवकार मन्त्र व सम्यक्त्व सूत्र के सन्दर्भ में दिया जा चुका है।

२. **भगवंताणं** (भगवान)—भगवान शब्द श्रद्धा और विश्वास का सूचक है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जो महान आत्मा पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण श्री; पूर्ण धर्म एवं पूर्ण प्रयत्न, इन छह पूर्णताओं से पूर्ण हैं, वही भगवान है। तीर्थंकर भगवान इन समस्त गुणों से युक्त हैं। इन गुणों में वे अद्वितीय हैं। अतः उन्हें भगवान कहना उचित ही है। जैन धर्म के अनुसार पूर्ण विकास पाने वाली आत्मा ही वस्तुतः भगवान हैं। हर आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। कहा भी हैं—"अप्पा सो परमप्पा"।

३. **आइगराणं** (आदिकर)—तीर्थंकर भगवान अपने-अपने समय में धर्म का पुनः प्रवर्तन करते हैं तथा नये सिरे से शासन की स्थापना करते है। यद्यपि धर्म अनादि है, अतः धर्म की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। तथापि यहां पर धर्म के व्यवहारिक रूप की अपेक्षा धर्मशासन की आदि मानी गयी है। तीर्थंकर धर्म को विधि पूर्वक नये रूप में प्रस्तुत करते हैं व श्रुत धर्म द्वादशांगी का नव-निर्माण करते हैं। जैसे भगवान महावीर ने पार्श्व प्रभु के चात्तुर्याम संवर धर्म के स्थान पर पंच महाव्रतरूप धर्म की स्थापना की। मूलतः धर्म अपरिवर्तनीय व शाश्वत है। फिर भी स्वानुभूति के बल पर तीर्थंकर अपने शासन में धर्म का स्वतन्त्र प्रतिपादन करते हैं अतः वे आदिकर कहे जाते हैं।

४. **तित्थयराणं** (तीर्थंकर)—अरिहंत भगवान तीर्थंकर कहलाते हैं। इसमें दो शब्द हैं, तीर्थ+कर। तीर्थंकर का अभिप्राय हुआ तीर्थ के कर्त्ता। जिससे तिरा जाय वह तीर्थ है। तीर्थ तिरने का साधन है। यह संसार समुद्र महा विकराल है। इसमें काम क्रोधादि कषाय रूपी अनेक भयावह

जानवर हैं तो विकार रूपी अनेक भंवर भी हैं जिनके गर्त में फंस कर आत्मा अनन्तानन्त काल से भटक रही है। साधना पथ की ओर अभिमुख आत्मा बीच में ही रह जाती है। ऐसे विकट समुद्र को पार करना साधारण साधक का काम नहीं है। तीर्थंकर भगवान ने इस समुद्र में भयमुक्त चार टापू-स्थान निश्चित किये हैं जो चार तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हैं— साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका। यह चतुर्विध तीर्थ संसार समुद्र के कर्म प्रवाह से बचने के लिये द्वीप के समान है।

५. सयं-संबुद्धाणं (स्वयं बुद्ध)—साधारण साधकों को प्रतिबोध के लिये किसी निमित या गुरु की आवश्यकता होती है। उन्हें जीवन विकास में योग्य मार्गदर्शक के नेतृत्व की आवश्यकता होती है। किन्तु तीर्थंकर भगवान विशिष्ट व्यक्तित्व के धारक होते हैं। अतः उन्हें किसी निमित्त या गुरु की अपेक्षा नहीं होती। वे स्वयं समय पर मोहनिद्रा से जागृत हो उत्थान की ओर अग्रसर हो जाते हैं। वे अपनी राह स्वयं ढूंढते हैं। इसलिये उन्हें स्वयंसंबुद्ध अर्थात् स्व से ही बोध प्राप्त कहा गया है।

६. पुरिसुत्तमाणं (पुरुषोत्तम)—तीर्थंकर भगवान सर्वोत्तम पुरुष हैं। कोई भी संसारी व्यक्ति उनके समकक्ष नहीं होता। अन्तर और बाह्य दोनों ही दृष्टि से वे श्रेष्ठ व ज्येष्ठ हैं। तीर्थंकर भगवान के शरीर पर १००८ दिव्य उत्तम लक्षण होते हैं। उनका शरीर सर्व रोगों से विमुक्त, देदीप्यमान, सुगन्धित व अनुपम होता है उनके सौंदर्य की सानी और कौन कर सकता है? निश्चय ही वे अद्वितीय एवं अनुपम हैं।

७. पुरिससीहाणं (पुरुषसिंह)—विश्व में सिंह सर्वदा ही अपने बल-पराक्रम एवं निर्भयता के लिये प्रख्यात रहा है। अन्य कोई प्राणी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान भी अनन्त आत्म-बल के धनी हैं। अहिंसा, अपरिग्रह व अनेकांत उनके आत्मिक अस्त्र हैं। कोई भी व्यक्ति उनके इस बल के आगे मुकाबला करने का साहस नहीं कर सकता। उनके मन में न तो कोई भय है और न ही खतरा। अतः वे निर्भय निर्द्वन्द हो विचरण करते हैं। इन दो गुणों के कारण ही उन्हें सिंह की उपमा दी गयी है।

८. पुरिसवर-पुण्डरीयाणं (पुरुषवरपुण्डरीक)—तीर्थंकर भगवान को पुण्डरीक कमल की उपमा दी गयी है। तीर्थंकर भगवान कमलवत् संसार समुद्र के कीचड़ से निर्लिप्त सदा शुचि-स्वच्छ रहते हैं। फिर पुण्डरीक कमल जिस प्रकार अन्यान्य कमलों की अपेक्षा सौन्दर्य व सौरभ में अतीव उत्कृष्ट होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान मानव समुदाय के सर्वश्रेष्ठ

कमल हैं। उनके अहिंसा, सत्यादि सद्गुणों की सौरभ उनके अपने समय में नहीं, वरन् हजारों लाखों वर्षों बाद आज भी जन-मानस को आन्दोलित करती रहती है, हजारों भावुक हृदयों को अपनी महक से महका रही है। उनका जीवन पूर्ण वीतराग, निर्मल, शुद्ध और शुभ्र होता है।

९. **पुरिसवर-गंधहत्थीणं** (पुरुषवर-गंधहस्ती)—तीर्थंकर भगवान मानव जाति में गंधहस्ती के समान हैं। गंधहस्ती वीरता एवं सुगन्ध दोनों का ही धनी है। रणक्षेत्र में गंधहस्ती के आते ही अन्य हाथी भयभीत हो पलायन कर जाते हैं। वैसे तीर्थंकर भगवान भी असीम बल व अनन्त गुणों के निधान हैं। उनका पदार्पण होते ही मिथ्यामतियों का जोर समाप्त हो जाता है।

१०. **लोगुत्तमाणं** (लोकोत्तम)—तीर्थंकर भगवान तीनों लोकों में उत्तम-श्रेष्ठ रत्न हैं। सुर, नर, किन्नर कोई भी उनकी बराबरी नहीं कर सकता। उनके परम औदारिक शरीर के आगे देवताओं का वैक्रिय शरीर भी तुच्छ है। उनके ऐश्वर्य के आगे हजारों हजार इन्द्रों का ऐश्वर्य भी नगण्य है।

११. **लोग-नाहाणं** (लोकनाथ)—तीर्थंकर भगवान लोक के नाथ हैं। उनके ऊपर कोई नाथ नहीं है, अतः वे ही इस लोक के नाथ होने योग्य हैं। वे प्रेम, क्षमा और शान्ति के बल से अपने असीम प्रेम साम्राज्य में विश्व का शासन करते हैं।

१२. **लोग-हियाणं** (लोक-हितकारी)—तीर्थंकर भगवान समस्त विश्व का हित करने वाले हैं। उनके मन में न तो राग-द्वेष की भावना है और न ही किसी जाति, धर्म या पक्ष के प्रति व्यामोह की भावना। यद्यपि उन्होंने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, तथापि वे संसार दावानल में जलते हुए प्राणियों को देख कर असीम करुणा करते हैं तथा उन्हें सन्मार्ग दिखा कर बचाते हैं। तीर्थंकर भगवान ही ऐसे व्यक्ति हैं जो बिना किसी स्वार्थ या कामना के अन्यों का हित साधन करते हैं।

१३. **लोग-पईवाणं** (लोक प्रदीप)—तीर्थंकर भगवान लोक में दीपक के समान हैं। दीपक के समान ही वे प्रकाश करने के साथ ही अन्यों को भी प्रकाशदाता बनाने वाले हैं। दीपक अपने संसर्ग में आये हुए सहस्रों दीपों को अपने समान बना देता है। यह उसकी निजी विशेषता है। तीर्थंकर भगवान भी वे प्रदीप हैं जो भक्त को सदा भक्त ही नहीं रखना चाहते। वे भक्त को भी भगवान याने अपने समकक्ष बना लेते हैं। उनकी सेवा में आकर सेवक भी सेव्य और पुजारी भी पूज्य बन जाता है।

१४. लोकपज्जोयगराणं (लोक प्रद्योतक)—तीर्थंकर भगवान लोक में प्रकाश करने वाले हैं। जब धरातल पर अज्ञान अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है, विश्व मिथ्यात्व के आवरण में गिर जाता है, जनता सत्य धर्म का मार्ग विस्मृत कर जाती है तब तीर्थंकर भगवान अपने शुभ्र केवल-ज्ञान का प्रकाश फैला कर, मिथ्यात्व तिमिर का निराकरण कर अपनी ज्ञान प्रभा से लोकत्रयी में धर्मोद्योत करते हैं।

१५. अभयदयाणं (अभयदय)—तीर्थंकर भगवान प्राणी मात्र को अभय देने वाले हैं। विरोधी से विरोधी के प्रति भी वे करुणा भाव ही रखते हैं। संसार के मोह मिथ्यात्व रूप सघन वन में भटकते हुए भय संत्रस्त प्राणियों को सन्मार्ग पर लगा कर वे उन्हें चार गति के भय से भयमुक्त करते हैं। ऐसे अभयदाता तीर्थंकर भगवान का कितना महान अनुकम्पापूर्ण कार्य है।

१६. चक्खुदयाणं (चक्षुर्दय)—तीर्थंकर भगवान को नेत्रदाता कहा गया है। वे जनता को ज्ञान नेत्र प्रदान करते हैं। जब हमारी आँखों के समक्ष अज्ञान का जाला छाया रहता है और आत्मा के ज्ञान नेत्र सत्यासत्य की परख में असमर्थ हो जाते हैं, तब तीर्थंकर भगवान ही इस जाले को दूर कर विवेक शक्ति प्रदान करते हैं।

१७. मग्गदयाणं (मार्गदय)—हर आत्मा में ऊपर उठने की, मुक्ति-मंजिल प्राप्त करने की चाह है। वह अनेक बार इस हेतु प्रयास कर चुकी है। पर सही मार्ग के नहीं जानने से वह अपने मार्ग से भटक गयी है। विपरीत मार्ग पर गमन कर उसने अपनी यात्रा बढ़ा ली है। तीर्थंकर भगवान इस पथ-भ्रांत यात्री को सही व लघुतम मार्ग बताते हैं। अतः उनको मार्गदाता कहा गया है।

१८. सरणदयाणं (शरणदय)—आत्मा के पीछे अनादि काल से कर्म लगे हुए हैं। ये कर्मशत्रु उसे निरन्तर सता रहे हैं। आत्मा उनसे पिंड छुड़ाना चाहती है पर उनका कर्म जाल इतना गहन है कि उनसे छुटकारा पाने का कोई चारा शेष नहीं रह जाता। ऐसी विकट दशा में तीर्थंकर भगवान ही उसे अपनी शरण में रख कर कर्म शत्रु को पराजित करने का उपाय सुझाते हैं और कर्मपाश से बचाते हैं। अतः वे शरणदाता हैं।

१९. जीवदयाणं (जीनवदाता)—तीर्थंकर भगवान जीवनदाता हैं। वे मानव को असंयम जीवन से उबार कर संयम का भाव जीवन प्रदान करते हैं। ऐसा जीवन ही वस्तुतः सच्चा जीवन है।

२०. बोहिदयाणं (सम्यक्त्वदाता)—जब विश्व में मिथ्यात्व तिमिर

घनीभूत हो जाता है, मानव सत्यासत्य का भान भूल जाता है, वह कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु व कुधर्म को धर्म मानने लग जाता है, तब ऐसी दशा में तीर्थंकर भगवान ही उसे सच्चा बोध कराते हैं। वे ही मानव को व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व का पाठ पढाते हैं वे ही प्राणी को देव, गुरु व धर्म रूप तत्वत्रय का सच्चा बोध कराते हैं, अतः इन्हें बोधिदाता कहा गया है।

२१. **धम्मदयाणं** (धर्मदाता)—तीर्थंकर भगवान ही धर्म के दाता हैं। यद्यपि धर्म देने-लेने की वस्तु नहीं है, पर तीर्थंकर भगवान अपने-अपने समय में सर्वप्रथम धर्म प्रवर्तन करते हैं तथा जनता को सच्चा धर्म श्रवण कराते हैं, अतः उन्हें व्यवहार में धर्मदाता कहा गया है।

२२. **धम्मदेसयाणं** (धर्मोपदेशक)—तीर्थंकर भगवान एक मायने में अन्य केवलियों से विशिष्ट हैं। सामान्य केवली कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर धर्मदेशना देते या नहीं भी देते पर तीर्थंकर भगवान कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् अपनी ज्ञानप्रभा चहुं ओर प्रसारित कर जन-जन का कल्याण करते ही हैं वे ग्राम नगर विचरण कर अवश्य धर्मदेशना देते हैं। अतः उनको धर्मोपदेशक कहा गया है।

२३. **धम्मनायगाणं** (धर्मनायक)—तीर्थंकर भगवान ही धर्म के नायक है। धर्म-संघ उन्हीं की आज्ञा में चलता है। उनके जीवनकाल में ही नहीं वरन् उनके निर्वाणोपरान्त भी अन्य तीर्थंकर के जन्म तक उन्हीं का शासन चलता है। समस्त धार्मिक अनुष्ठान उनकी आज्ञा से ही किये जाते हैं।

२४. **धम्मसारहीणं** (धर्म रथ के सारथि)—तीर्थंकर भगवान धर्म रथ के सारथि हैं। धर्म रूपी रथ के साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका सवार हैं तथा तीर्थंकर भगवान इसके कुशल चालक हैं। रथ-संचालन सारथि की कुशलता पर ही निर्भर करता है। तीर्थंकर देव से अधिक कुशल सारथि और कौन हो सकता है।

२५. **धम्मवर चाउरंत-चक्कवट्टीणं** (धर्मवर-चतुरंत-चक्रवर्ती) तीर्थंकर भगवान ने नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव इन चारों गतियों का अन्त कर सम्पूर्ण विश्व पर अपनी अहिंसा सत्य रूप धर्म साम्राज्य स्थापित किया है अतः वे धर्म के चतुरंत चक्रवर्ती कहलाते हैं। यह धर्मचक्र ही विश्व में सच्ची शान्ति स्थापित कर संसार को एक सूत्र में आबद्ध कर सकता है। वस्तुतः तीर्थंकर भगवान चक्रवर्तियों के भी चक्रवर्ती हैं। चक्रवर्ती सम्राट भी उनकी पदधूलि में मस्तक नवा कर अपने आपको गौरवान्वित समझते हैं।

२६. **दीवोताणं सरणं गई पइट्ठा**—तीर्थंकर भगवान इस संसार समुद्र में द्वीप-टापू के समान हैं जहां आकर प्रत्येक प्राणी सुरक्षित रहता है। वे त्राण रक्षक हैं। ऐसे परम उपकारी तीर्थंकर देव दूसरों के लिये शरण रूप हैं। वे गति एवं प्रतिष्ठा रूप हैं।

२७. **अप्पडिहय - वर - नाण - दंसणधराणं**— (अप्रतिहतज्ञानदर्शन-धारक)—तीर्थंकर भगवान अप्रतिहत ज्ञान दर्शन के धारक हैं। उनका ज्ञान निर्बाध है। उनके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। वह सर्वोत्कृष्ट, असीम व अनन्त है। विश्व के प्रत्येक रूपी अरूपी पदार्थ को वे हस्तीमलकवत् देखते हैं। उन्हें ज्ञान के लिए प्रयास कर जान की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक पदार्थ उनके ज्ञानचक्षु के समक्ष ज्ञात होते हैं। वे प्रत्येक समय की प्रत्येक बात (भूत, भविष्यत व वर्तमान सम्बन्धी) जानते हैं। स्पष्ट है कि जैन धर्म उसे ही अपना आराध्य स्वीकार करता है जो पूर्ण है। जिसमें अपूर्णता है वह आराध्य नहीं हो सकता, भले ही आराधक हो। तीर्थंकर का ज्ञान दर्पणवत् ज्ञेय का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है।

२८. **विअट्टछउमाणं** (छद्म रहित)—तीर्थंकर भगवान को सूत्रकार ने छद्म रहित कहा है। छद्म के दो अर्थ हैं—आवरण व छल। ज्ञानावरणी-यादि घनघाती कर्म आत्मा के अनन्त गुणों पर आवरण करते हैं। तीर्थंकर भगवान ने इस आवरण को सर्वथा हटा दिया है। दूसरे उनके जीवन में न तो कोई छल-कपट है और न ही कोई दुराव-छिपाव। वे सबके लिए एक समान निश्छल हैं। वे स्व को प्राप्त परम सत्य निश्छल हृदय से आबाल-वृद्ध सबके समक्ष प्रकट करते हैं। कपट की तरह उपलक्षण से क्रोध, मान, लोभ, कषाय से भी वे रहित हैं। अतः उन्हें छद्म रहित कहा गया है।

२९. **जिणाणं जावयाणं** (जिन व जापक)—तीर्थंकर भगवान स्वयं राग-द्वेष के विजेता हैं व दूसरों को भी इन राग द्वेषादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करवाते हैं। वे पहले स्वयं विजयी होकर जनता को विजय का मार्ग बताते हैं।

३०. **तिन्नाणं तारयाणं** (तीर्ण व तारक)—तीर्थंकर भगवान स्वयं इस संसार समुद्र से पार हो गये हैं व दूसरों को भी संसार सागर से पार करते हैं।

३१. **बुद्धाणं बोहयाणं** (बुद्ध व बोधक)—तीर्थंकर भगवान ने स्वयं सही बोध प्राप्त कर लिया है और वे दूसरों को भी यह सम्यक् बोध देते हैं।

३२. **मुत्ताणं मोयगाणं** (मुक्त व मोचक)—तीर्थङ्कर भगवान स्वयं कर्म बन्धनों से मुक्त हैं व दूसरों को भी इन बन्धनों से मुक्त करते हैं।

विशेष—(२९, ३०, ३१, ३२) में वर्णित तीर्थंकर भगवान के ये गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ये विशेषण तीर्थंकर पद की विशिष्टताओं के द्योतक हैं। स्वयं अपना कल्याण करना तथा अन्यों का भी कल्याण करना स्व पर के उत्थान की यह भावना जैनत्व के भव्य उदात्त आदर्श को भली-भांति अभिव्यक्त करती है। धर्म प्रचार एवं जनकल्याण से भगवान को न तो कोई व्यक्तिगत लाभ होता है और न ही उन्हें इसकी अपेक्षा है। उनके लिए यद्यपि कोई साधना शेष नहीं है, तथापि वे कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् भी मात्र विश्व-करुणा की भावना से तीर्थंकर नाम कर्म के भोग हेतु जनता को सन्मार्ग का उपदेश देते हैं।

३३. सव्वन्नूणं (सर्वज्ञ)—तीर्थंकर सर्वज्ञ हैं। वे चर, अचर, भूत, भविष्यत, वर्तमान के समस्त पदार्थों के ज्ञाता हैं। उनके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं है।

३४. सव्वदरिसीणं (सर्वदर्शी)—तीर्थंकर भगवान सर्वदर्शी हैं। विश्व के समस्त रूपी-अरूपी पदार्थों को वे हस्तामलकवत देखते हैं।

३५. **सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणराविति-सिद्धिगइ नाम धेयं ठाणं संपत्ताणं** (संपाविउकामाणं)—तीर्थंकर भगवान मोक्ष को प्राप्त करने वाले हैं, ऐसा वर्त्तमान तीर्थंकर की दृष्टि से कहा जा सकता है। जो तीर्थंकर मोक्ष में पधार गये हैं, उनके लिए 'ठाणं संपत्ताणं' अर्थात् मोक्ष स्थान को प्राप्त कर चुके; शव्द प्रयुक्त किया गया है।

इस पद में यह स्पष्ट किया गया है कि यह मोक्ष स्थान कैसा है। मोक्ष की कतिपय विशेषताएं जो यहां व्यक्त की गयी हैं, निम्न है—

(अ) सिवम् — कल्याणकारी
(आ) अयलम् — अचल, स्थिर
(इ) अरुयम् — रोग रहित
(ई) अणंतम् — अनन्त - अन्त रहित
(उ) अक्खयम् — अक्षय - अविनाशी
(ऊ) अव्वाबाहम् — अव्याबाध - बाधा रहित
(ए) अपुणराविति — पुनरागमन से रहित। सिद्ध गति में जाने के बाद आत्मा को पुनः संसार में आने व भटकने की कतई आवश्यकता नहीं है यह ऐसा स्थान है जहां जीव जाता तो है पर वहां से पुनः कोई आता नहीं।

३६. जियभयाणं (भय विजेता)—संसार में जन्म, जरा और मृत्यु के महान भय हैं। अरिहंत प्रभु ने इन पर विजय प्राप्त कर ली है और वे सर्वथा भयों से मुक्त हो चुके हैं।

अन्त में नमो जिणाणं द्वारा यह अभिलक्षित होता है कि ऐसे जो तीर्थंकर भगवान हैं, जो जिन भगवान हैं, उनको मेरा नमस्कार हो।

प्रश्न–१ प्रस्तुत सूत्र का क्या नाम है ?

उत्तर– इस सूत्र के तीन नाम हैं—

(१) नमोत्थुणं—भक्तामर की भांति प्रथम शव्द के आधार पर यह नाम प्रयुक्त किया जाता है।

(२) शक्रस्तव—प्रथम देवलोक के इन्द्र शकेन्द्र ने अरिहंत भगवान की स्तुति इस पाठ द्वारा की; अतः इसे शक्रस्तव भी कहा गया है।

(३) प्रणिपात्र सूत्र—प्रणिपात का अर्थ नमस्कार होता है। इसमें भी तीर्थंकर देव को नमस्कार किया गया है, अतः इसको प्रणिपात सूत्र के नाम से भी उल्लेख किया जाता है।

प्रश्न–२ नमोत्थुणं पढने की विधि क्या है ?

उत्तर– राजप्रश्नीय आदि मूल आगम व कल्पसूत्रादि में जहाँ देवताओं द्वारा भगवान को नमोत्थुणं के पाठ से वन्दन का उल्लेख है, वहाँ दाहिना घुटना भूमि पर टेकने व बायां घुटना खड़ा कर दोनों हाथ अंजलिबद्ध कर मस्तक पर लगाने का विधान है। यह आसन विनय व नम्रता का सूचक है। वर्तमान में भी नमोत्थुणं पढने की यही परम्परा प्रचलित है।

प्रश्न–३ प्रस्तुत सूत्र में किसको वंदना की गयी है ?

उत्तर– प्रस्तुत सूत्र में तीर्थंकर देव की स्तुति की गयी है। इसका क्षेत्र सामान्य केवलियों तक विस्तृत नहीं किया जा सकता क्योंकि 'तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं धम्म सारहीणं धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं' आदि विशेषण इसे केवल तीर्थंकर पद से मोक्ष पाने वालों तक ही सीमित करते हैं।

प्रश्न–४ नमोत्थुणं कितनी बार व क्यों ?

उत्तर– इस संबंध में वर्तमान प्रचलित परम्परा दो वार नमोत्थुणं पढने की है। पहले से सिद्धों को व दूसरे से अरिहंतों को वंदना की जाती है। गुजरात जैसे कुछ क्षेत्रों में तीसरा नमोत्थुणं धर्माचार्य को भी दिया जाता है।



समाप्ति-सूत्र

एयस्स नवमस्स सामाइय वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-मण दुप्पणिहाणे, वय दुप्पणिहाणे, काय दुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं। सामाइयं सम्मं काएण, न फासियं, न पालियं, न तीरियं, न किट्टियं, न सोहियं, न आराहियं आणाए अणुपालियं न भवइ, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

दस मन के, दस वचन के और बारह काया के इन बतीस दोषों में से किसी दोष का सेवन किया हो तो, 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'।

सामायिक में स्त्रीकथा, भातकथा, देशकथा और राजकथा इन चारों में से कोई विकथा की हो तो, 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'।

आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा इनमें से कोई संज्ञा की हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'।

सामायिक में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, जाने अनजाने कोई दोष लगा हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'।

सामायिक पाठ में काना, मात्रा, ह्रस्व, दीर्घ, पद, अक्षर, स्वर, अनुस्वार आगे पीछे बोला हो तो अनन्तसिद्ध केवली भगवान की साक्षी से 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'।

एयस्स	—	इस
नवमस्स	—	नवमें
सामाइयवयस्स	—	सामायिक व्रत के
पंच	—	पांच
अइयारा	—	अतिचार
जाणियव्वा	—	ज्ञेय, जानने योग्य हैं।

न सामायरियव्वा	—	आचरण करने योग्य (उपादेय) नहीं है
तंजहा	—	वे इस प्रकार हैं।
मण दुप्पणिहाणे	—	मन की सदोष प्रवृति, अशुभ मन
वय दुप्पणिहाणे	—	वचन की सदोष प्रवृति, अशुभ वचन
काय दुप्पणिहाणे	—	शरीर की सदोष प्रवृति-अशुभ काय योग
सामाइयस्स	—	सामायिक की
सइ अकरणया	—	स्मृति नहीं रखना
सामाइयस्स	—	सामायिक को
अणवट्ठियस्स करणया	—	अन्यवस्थित करना
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं	—	उस संबंधी मेरा पाप (दुष्कृत) मिथ्या होवे
सामाइयं	—	सामायिक को
सम्मं	—	सम्यक प्रकार से
काएणं	—	शरीर से
न फासियं	—	स्पर्श न किया हो
न पालियं	—	पालन न किया हो
न तीरियं	—	पूर्ण न किया हो
न किट्टियं	—	कीर्तन न किया हो
न सोहियं	—	शुद्ध न किया हो
न आराहियं	—	आराधन न किया हो
आणाए	—	वीतराग देव की आज्ञानुसार
अणुपालियं	—	अनुपालित
न भवइ	—	न हुआ हो
तस्स	—	उस संबंधी
मि	—	मेरा
दुक्कडं	—	दुष्कृत
मिच्छा	—	मिथ्या हो।

सविधि सामायिक व्रत ग्रहण के पश्चात् साधक निश्चित काल के लिये, स्वीकृत सामायिक व्रत की सम्यक् प्रतिपालना में लीन हो जाता है। इस समय में वह अध्ययन, मनन-चिन्तन और स्तुति व ध्यानादि द्वारा सर्वतो-मुखी साधना करता है। निश्चित काल व्यतीत हो जाने पर साधक समाप्ति सूत्र द्वारा यह व्रत पारता है। साधक का यह कर्तव्य है कि वह सामायिक-

काल में पापों व दोषों से बचने का भरसक प्रयास करे। फिर भी साधक आखिर साधक ही है। साधनाकाल में कुछ दोष अन्ततोगत्वा लग ही जाते हैं। उनके लिये सामायिक पारते समय आलोचना की जाती है। इस प्रायश्चित विधान में अपने दोषों को कुरेद-कुरेद कर देखने की प्रवृति है ऐसा नहीं है कि अपने दोषों को छिपाकर दूसरों पर उनको थोपने की वृत्ति या भावना हो। इस दोष-दर्शन प्रवृति का मनोवैज्ञानिक प्रभाव साधक की आत्मा पर पड़ता है और वह उत्तरोत्तर दोष रहित बनती जाती है।

इस पाठ में सामायिक व्रत में लगने वाले दूषणों का उल्लेख करते हुए इनके लिये प्रायश्चित किया गया है। व्रत चार प्रकार से दूषित हो सकता है। वे प्रकार हैं–अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार। मन में शुभ भाव विनष्ट हो, उनके स्थान पर अशुभ भावों की उत्पत्ति तथा अकृत्य करने का संकल्प उदित होना अतिक्रम है। अकृत्य को करने के लिये साधन जुटाना व्यतिक्रम है। इससे आगे बढ कर अकृत्य को कार्य रूप में परिणत करने हेतु आगे बढना आदि अतिचार हैं व अकृत्य का सेवन करना अनाचार है।

साधक को अनाचार सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। उसको अतिचार तक के दोषों से भी बचने का प्रयास करना चाहिये। अतिक्रम और व्यतिक्रम जब तक मन में दृढता का अभाव है, सम्भव है। अधिक दुष्परिणमन की दशा में अतिचार भी लगना कदाचित् सम्भव है। सामायिक के इस समाप्ति सूत्र में इन्हीं अतिचारों के सेवन की आलोचना की गयी है। अतिचारों की आलोचना के साथ अतिक्रम व व्यतिक्रम की आलोचना स्वतः हो जाती है। सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं।

(१) **मन दुप्पणिहाणे** (मन दुष्प्रणिधान)—मन की सांसारिक भौतिक संकल्प विकल्प की ओर गति, सामायिक का प्रथम अतिचार है।

(२) **वय दुप्पणिहाणे** (वचन दुष्प्रणिधान)—सामायिक के काल में विवेकशून्य, अशुभ, सांसारिक विषयों से संबंधित वचन बोलना, द्वितीय अतिचार है।

(३) **काय दुप्पणिहाणे** (कायदुष्प्रणिधान)—शरीर की अस्थिरता व कुचेष्टायें, विवेक रहित हलन-चलन आदि तीसरा अतिचार है।

(४) **सामाइयस्स सइ अकरणया** (सामायिक स्मृति-विभ्रम)—यह भूल जाना कि मैं सामायिक में हूं या खुला; यह चतुर्थ अतिचार है।

(५) **सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया** (सामायिक अनवस्थित) सामायिक में बैठने पर भी सामायिक में चित्त न लगना व अंततः समय

परिसमाप्त होने से पूर्व ही सामायिक की समाप्ति कर लेना, सामायिक का पंचम अतिचार है।

जहां सूत्र के प्रथम भाग में अकृत्य सेवन की आलोचना की गयी है, वहां द्वितीय भाग में कृत्य के असेवन की भी आलोचना की गयी है। सामायिक में प्रभु का कीर्तन करना चाहिये तथा इसका सम्यक् शुद्धरीति से आराधन किया जाना चाहिये। सामायिक का समय पूर्ण होने तक वीतराग देव की आज्ञा से व्रत का पवित्र भावना के साथ अनुपालन करते हुए यह प्रयास करना चाहिए कि सामायिक का व इसकी भावना का शरीर एवं जीवन के साथ स्पर्श हो, सम्पर्क हो।



सामायिक : व्रत ग्रहण व समापन विधि

सामायिक एक पवित्रतम विशुद्ध साधना है। यह मन-मन्दिर को पवित्र बनाने का मंगलमय अनुष्ठान है। प्रत्येक कार्य यदि सम्यक् विधि से किया जाय तो 'सोने में सुहागा' की लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है। सब से पहले कार्य करने के पूर्व स्थल शुद्धि की जाती है व अपनी व्यक्तिगत विशुद्धि की जाती है। यहां भी सब से पहले पूंजणी द्वारा स्थान शुद्धि कर आत्म-शुद्धि हेतु चउवीसत्थव किया जाता है, जिसकी विधि इस प्रकार है।

(अ) शांत तथा एकांत स्थान का सम्यक् प्रकारेण प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन।

(आ) गृहस्थोचित वस्त्रों का परित्याग-परिवर्तन।

(इ) शुद्ध आसन, वस्त्र एवं सामायिक के उपकरणों को ग्रहण करना।

(ई) गुरु या उनकी अनुपस्थिति में पूर्वोत्तर (ईशानकोण) दिशा की ओर अभिमुख हो चउवीसत्थव करना—इसमें पाठों का निम्न क्रम से उच्चारण किया जाता है।

(१) तिक्खुत्तो (तीन बार)
(२) नवकार मंत्र
(३) सम्यक्त्व-सूत्र
(४) आलोचना-सूत्र
(५) उत्तरीकरण-सूत्र
(६) ऐर्यापथिक या आलोचना सूत्र का काउसग्ग
(७) ध्यान का पाठ
(८) लोगस्स (प्रकट)
(९) करेमि भंते द्वारा व्रत ग्रहण
(१०) नमोत्थुणं (दो बार)

विधि पूर्वक व्रत ग्रहण के पश्चात् साधक व्रत का सम्यक् प्रकारेण परिपालन करता है। सामायिक का समय [१ मुहुर्त—२ घड़ी (४८ मिनट)] व्यतीत होने पर वह सविधि सामायिक को पारता है। पारने के लिये भी चउवीसत्थव किया जाता है। इसमें पाठों का क्रम निम्न प्रकार है—

सामायिक के बत्तीस दोष

सामायिक समस्त आत्मिक साधना का सार है। यह एक अलौकिक अद्भुत साधना है जिसे करके श्रावक भी अल्प समय के लिए श्रमणवत् बन जाता है। सामायिक वह अमोघ अस्त्र है जिसके धारण करने से समस्त व्याधियां नष्ट होकर जीवन में एक अपूर्व आनन्दानुभूति होती है। यही वह अमर साधना है जिसके कि नित्य प्रति सम्पादन से जीवन आध्यात्मिक ज्ञान की निधि से जगमगाने लगता है, उसमें अद्वितीय कान्ति चमकने लगती है। पर यह तभी होता है जबकि साधना समग्र हो, दोष रहित हो क्योंकि मन, वचन, कायादि योगों द्वारा लगने वाले दोष ही वे छेद हैं जो कि इस आध्यात्मिक लक्ष्मी को आत्म निवास में नहीं रहने देते।

मन, वचन और काया ये कार्य सम्पादन के तीन साधन हैं। यदि इनका सदुपयोग किया जाय तो आत्मा में अद्भुत शक्ति का संचार हो सकता है और यदि इन्हीं को सांसारिक प्रवृत्तियों में लगाया जाय तो आत्मा पतन के गर्त में गिर सकती है। अतएव इस त्रिविध शक्ति को व्यर्थ न गंवा कर सामायिक रूपी अलौकिक धन की उपलब्धि से सफल बनाने में ही बुद्धिमत्ता है। त्रिविध शक्ति को सही मार्ग में प्रवृत्त करें, इसके पूर्व यह जान लेना आवश्यक होगा कि इन शक्तियों के दुरुपयोगजन्य दोष कौन-कौन से हैं, जो हमारी साधना को मलिन कर सकते हैं।

ये दोष बत्तीस हैं। मन, वचन, काया के अनुसार इनका तीन भागों में वर्गीकरण किया गया है।

• मन के १० दोष

अविवेग जसोकित्ती, लाभत्थी गव्व-भय-नियाणत्थी।
संसय रोस अविणओ, अबहुमाणए दोसा भणियव्वा ॥

१. अविवेग (अविवेक)—सामायिक करते समय-समय असमय का विचार न रख कर अविवेक से सामायिक करना और शरीर एवं कुटुम्ब की बाधा का बिना ख्याल किये व्रत करना अविवेक दोष है। सामायिक के स्वरूप व उद्देश्य को यथार्थ रूप में न समझना भी अविवेक दोष है।

२. जसोकित्ती (यशोकीर्ति)—यश-कीर्ति की कामना से प्रेरित होकर सामायिक करना अथवा सामायिक में आत्म प्रशंसा की चाह करना

सामायिक का दोष है। ऐसा करने से सामायिक में राग एवं मोह की वृद्धि होती है, अतः यह सामायिक का दूसरा दूषण है।

३. लाभत्थी (लाभार्थ)—सामायिक करने से सांसारिक धन-जन आदि का लाभ होगा, मुकदमे में जीत हो जाएगी आदि लाभ के लिए सामायिक करना भी व्रत का दूषण है।

४. गव्व (गर्व)—सामायिक की साधना करना आत्महित के लिए है, उससे यह समझना कि मैं वहुत वड़ा धर्मात्मा हूँ। मैं इतनी सामायिकें करता हूँ। मेरे वरावर शुद्ध सामायिक करने वाला और कौन है? इस प्रकार के भाव लाना या अहंकार से सामायिक करना गर्व दोष है।

५. भय—राज भय या शिक्षक आदि के दण्ड भय से वचने को सामायिक करना भय दोष है।

६. नियाणत्थी (निदान)—सामायिक करके प्रतिफल में किसी पदार्थ, ऐश्वर्य या सुख की अभिलाषा करना चिन्तामणि रत्न को कोड़ियों के वदले वेचना है। अनजान साधक सामायिक के वदले सांसारिक भोग-विलासों की कामना कर इस अखूट वैभव को व्यर्थ ही गंवा देता है। यह निदान दोष है।

७. संसय (संशय)—मानसिक दृढ़ता व श्रद्धा की कमी के कारण सामायिक करते हुए भी इसकी महत्ता पर सर्वसाधारण को विश्वास नहीं हो पाता। मन में सदा एक सन्देह सा वना रहता है कि न जाने इसका फल प्राप्त होगा या नहीं। सामायिक करते-करते इतने दिन वीत गये पर अभी तो फल विशेष की प्राप्ति नहीं हुई। फिर भला अव क्या मिलेगा, ऐसे भाव लाकर सामायिक की महत्ता में सन्देहात्मक स्थिति उत्पन्न करना संशय दोष है।

८. रोस (रोष)—लड़ाई झगड़ा कर या रूठ कर सामायिक लेकर वैठना यह रोष दोष है। क्रोध की स्थिति में समत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती और समता के विना सामायिक भी नहीं हो पाती।

९. अविणओ (अविनय)—देव, गुरु, धर्म व सामायिक व्रत के प्रति आदर भाव न रख कर उपेक्षित भाव रखना अविनय दोष है।

१०. अवहुमाण (अवहुमान)—अनुत्साहपूर्वक वेगारी की माफिक सामायिक करना अवहुमान है, व्रत का अपमान है। कुली की तरह सामायिक को एक असहनीय भार समझना, कव समय व्यतीत हो और इससे

निवृत्त होऊं ऐसे भाव लाना, सामायिक में बैठे-बैठे घड़ी हिलाना, मिनट-मिनट गिनना व व्रत पूर्ण होते ही बन्धन मुक्त पशु की तरह भागना अवहुमान दोष है।

• वचन के १० दोष

कुवयण सहसाकारे, सछंद-संखेव-कलहं च।
विगहा विहासोऽसुद्धं निरवेक्खो मुणमुणा दोसा दस ॥

१. कुवयण (कुवचन)—सामायिक काल में कुत्सित अर्थात् अश्लील, गन्दे या कषाय युक्त वचन वोलना कुवचन दोष है।

२. सहसाकारे (सहसाकार)—साधक को समय-असमय और परिस्थितियों का विचार कर ही वाणी का ताला खोलना चाहिए। विना विचारे जो मन में आ जाय वैसा ही वोल देना सहसाकार दोष है।

३. सछंद (स्वछंद)—सामायिक में राग, द्वेष, विषय-विकार वर्द्धक मनमाने गन्दे गीत गाना एवं निरंकुश होकर वोलना स्वछन्द दोष है।

४. संखेव (संक्षेप)—सामायिक या अन्य किसी सूत्र के पाठों को संक्षेप करके अपूर्ण उच्चारण करना, यथार्थ रूप में न पढ़ते हुए कुछ अक्षर छोड़ देना, कुछ पढ़ लेना, यह जिनवाणी का अपमान व सामायिक व्रत का दोष है।

५. कलहं (कलह)—सामायिक में कलह पैदा करने वाले वचन वोलना जैसे मर्मभेदी वचन वोल कर पुराने क्लेश जागृत करना तथा नये झगड़े लगाना कलह दोष है।

६. विगहा (विकथा)—सामायिक एक विशुद्ध आध्यात्मिक अनुष्ठान है जिसमें सिर्फ आत्मा सम्वन्धी चिन्तन, मनन व कथा करनी चाहिए। संसार सम्वन्धी कथा करना दोष रूप है। सांसारिक कथाओं को हमारे यहां विकथा कहा गया है। ये चार हैं—

(i) स्त्री कथा—स्त्रियों की, राज-राजेश्वरियों के रूप, सौन्दर्य व शृंगारादि की चर्चा करना।

(ii) राजकथा—राजनैतिक चर्चा, वाद-विवाद करना।

(iii) भक्त कथा—भोजन खाने-पीने सम्वन्धी वातें करना।

(iv) देश कथा—देश-देशान्तर, ग्राम, नगर आदि की चर्चा करना।

७. विहासो (हास्य)—सामायिक में हंसी ठट्ठा करना, किसी की मजाक उड़ाना, व्यंग कसना, कौतूहल करना व किसी को खिसियाने पर मजवूर करना हास्य दोष है।

८. असुद्ध (अशुद्ध)—सामायिकादि सूत्र पाठों में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ, दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व, कम ज्यादा मात्राएं बोलना, शुद्धि की ओर ध्यान दिये बिना ही लापरवाहीपूर्वक उच्चारण करना अशुद्धि दोष है।

९. निरवेक्खो (निरपेक्ष)—शास्त्र के दृष्टिकोण का विचार न करके बोलना, परस्पर असंगत विरोधजनक और दूसरों को दुःख उपजाने वाले वाक्य कहना तथा जिनवाणी की उपेक्षा करना निरपेक्ष दोष है।

१०. मुणमुणा (मम्मण)—गुनगुनाते हुए इस प्रकार बोलना जिससे सुनने वाला पूरी तरह न समझ सके, मम्मण दोष है।

• काया के बारह दोष

'कुआसणं चलासणं चलदिट्ठी,, सावज्जकिरिया लम्बणा कुंचण पसारणं।
आलस मोडण मल विमासणं, निद्दावेयावच्चति बारस काय दोसा॥

१. **कुआसण** (कुआसन)—सामायिक में पैर पर पैर चढ़ा कर बैठना, टेढा-मेढ़ा या अन्य किसी अशिष्ट आसन से बैठना, गुरुजनों के प्रति पीठ करके बैठना आदि 'कुआसन' दोष है।

२. **चलासण** (चलासन)—चलासन दो प्रकार से हो सकता है। स्वभाव की चपलता से बिना कारण बार-बार आसन बदलना, उठना-बैठना जीवघात का कारण है अतः दोष रूप है। इसके अतिरिक्त डगमगाते हुए शिला, पाट आदि पर बैठने से उनके नीचे स्थित जन्तु कुचल जाते हैं; तथा जिस स्थान पर बैठक से बार-बार उठना पड़े, ऐसे स्थान पर बैठना भी उचित नहीं है व दोष रूप है।

३. **चलदिट्ठी** (चल दृष्टि)—चंचल दृष्टि रखना, बिना कारण ही इधर-उधर देखते रहना व अपनी नेत्र इन्द्रिय को वश में न रखना ये चल दृष्टि दोष में सम्मिलित हैं।

४. सावज्जकिरिया (सावद्य क्रिया)—सामायिक के समय में सावद्य याने पापकारी या वर्जनीय कार्य करना सावद्य दोष है। जैसे हिसाब-लेखन, सिलाई, कसीदा, अचित पानी से लेपन या स्नान कराना, बच्चे को खिलाना, गोद में लेना आदि गृह कार्य यह समझाते हुए कि इनमें किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती है, करना सावद्य क्रिया दोष है।

५. आलम्बण (आलम्बन)—बिना किसी कारण के भींत, स्तम्भादि का सहारा लेकर बैठना आलम्बन दोष है। ऐसा करने से भींत,

स्तम्भादि के आश्रित अनेकशः जीवों की घात होती है तथा निद्रा व प्रमादादि दोषों की वृद्धि सम्भव है।

६. आकुंचन पसारणं (आकुञ्चन प्रसारण)—विना किसी विशेष प्रयोजन के हाथ पैर व शरीर के अंगों को वार-वार फैलाना व सिकोड़ना 'आकुञ्चन प्रसारण' दोष है।

७. आलस (आलस्य)—सामायिक में अंग मरोड़ना, जंभाइयां लेना, शरीर को इधर-उधर पटकना आदि आलस्य के उदाहरण हैं।

८. मोडन (मोड़न)—सामायिक में बैठे हुए हाथ पैर की अंगुलियों तथा शरीर के अन्य भागों को चटकाना मोड़न दोष है।

९. मल—सामायिक करते समय शरीर पर से मैल उतारना 'मल' दोष है।

१०. विमासणं (विमासन)—हथेली पर सिर रख कर, जमीन की तरफ दृष्टि रख कर या गाल पर हाथ लगा कर शोकग्रस्त, चिन्ता-निमग्न व्यक्ति की तरह चिन्ता के आसन से बैठना विमासन दोष है।

११. निद्रा (निद्रा)—सामायिक व्रत में बैठे-बैठे ऊंघना, नींद लेना आदि निद्रा दोष है।

१२. वेय्यावच्चति (वैय्यावृत्य)—सामायिक में दूसरों से अपनी सेवा करवाना, हाथ पैरों के मालिश करना या दूसरे अव्रती की सेवा करना आदि वैय्यावृत्य दोष है। व्रतधारी की सेवा की जा सकती है।

उपर्युक्त दोष सामायिक की साधना को दूषित करते हैं। अतः सुज्ञ साधकों को इनका यथावत् स्वरूप समझ कर इनसे वचने का प्रयास कर, मन, वचन व काया रूपी त्रिविध शक्ति को उत्कृष्ट संवर-धर्म की उपासना में लगाना चाहिए।



● सामायिक : संक्षिप्त परिचय

जैन साधना क्षेत्र में सामायिक का एक बहुत ही विशिष्ट स्थान है। क्या श्रमण और क्या श्रावक, सभी इसके आराधक होते हैं। श्रावक-व्रतों में यह नवमा व्रत है व श्रमणों के लिये तो संयम का दूसरा नाम ही सामायिक है। सामायिक बहुचर्चित शब्द है। कौन व्यक्ति सामायिक को नहीं जानता? आये दिन हम यह शब्द श्रवण करते रहते हैं।

फिर भी सहज प्रश्न उठता है कि इस बहुप्रचलित शब्द का क्या अर्थ है? सामायिक क्या है? सामायिक का व्यवहारिक आशय एकांत स्थान में शुद्ध आसन बिछा कर, शुद्ध वस्त्र अर्थात् अल्प हिंसा से निर्मित सादा वस्त्र-परिधान कर, दो घड़ी तक 'करेमि भंते' के पाठ से सावद्य व्यापारों का परित्याग कर सांसारिक झंझटों से विमुख हो अध्ययन, चिंतन, मनन या ध्यान और जप प्रार्थनादि करते बैठना है। यह आशय सामायिक की बाह्य झांकी प्रस्तुत करता है। सामायिक के अंतर की ओर दृष्टिपात करना हो तो वह भी इस शब्द में ही सन्निहित है।

सामायिक में दो शब्द हैं—सम+आय। सम् का तात्पर्य है राग-द्वेष रहित मनःस्थिति और आय का अर्थ है लाभ। अर्थात् सामायिक राग-द्वेष रहित मनःस्थिति की प्राप्ति का साधन है। इसे अन्य शब्दों में समभाव भी कहा जा सकता है। सामायिक की परिभाषा करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

'समभावो सामाइयं, तण-कंचण-सत्तुमित्त-विउसत्ति।
णिरमिसंगं चित्तं, उचिय-पवित्तिप्पहाणं च ॥'

अर्थात् समभाव ही सामायिक है। चाहे तृण हो या कंचन, शत्रु हो या मित्र, सर्वत्र मन को रागद्वेष-आसक्ति रहित रखकर उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना ही समभाव की प्राप्ति रूप सामायिक है।

यही आशय निम्न पद में दोहराया गया है—

'समता सर्व-भूतेषु, संयमः शुभ-भावना।
आर्त रौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥

अर्थात् सब जीवों पर समान भाव—मैत्रीभाव रखना, संयम व अंतर्हृदय में शुभ भावना तथा आर्तरौद्रादि कुध्यानों का त्याग ही सामायिक व्रत है।

वस्तुतः समता ही सामायिक है। विषम भाव से स्वभाव की ओर परिणति ही सामायिक है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों को समान मानना, दुःख विमुक्ति या सुख प्राप्ति हेतु अनुचित ऊहापोह न करना, यही तो समता है। सामायिक का आराधक संकट की घड़ियों में भी भयभीत नहीं होता, वह तो यही चिन्तन करता है कि—

एगो मे सासओ अप्पा, णाण-दंसण संजुओ।
सेसा मे बाहिराभावा, सव्वे संजोग-लक्खणा ॥

अर्थात् ये पौद्गलिक संयोग-वियोग आत्मा से भिन्न हैं। इनसे न तो आत्मा का हित ही हो सकता है और न अहित ही। सामायिक के कई अन्य अर्थ भी हो सकते हैं—

१. शम से शमाय बनता है। शम का अर्थ है कषायों का उपशम। याने सामायिक वह क्रिया है जिससे कषायों का उपशम हो।

२. "समानि अयनं समायः"–मोक्ष प्राप्ति के साधन भूत रत्नत्रय—ज्ञान दर्शन, चारित्र ये 'सम' कहलाते हैं, इनमें प्रवृत्ति करना सामायिक है।

३. "सामे अयनं" सामस्य वा आयः–सामायः अर्थात् सब जीवों पर मैत्री भाव रखना ही सामायिक है।

४. सम् याने सम्यक् अर्थात सद् आचरण में अयनं-गमन ही सामायिक है।

५. "समये भवं अथवा समये अयनं" से समय पर की गयी साधना सामायिक है।

सामायिक को सावद्ययोगविरति भी कहा गया है। रागद्वेष रहित दशा में साधक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि सम्पूर्ण पापों का त्याग करता है। उसकी प्रतिज्ञा भी यही होती है "सावज्जं जोगं पच्चक्खामी" अर्थात् "मैं सावद्य योग का त्याग करता हूं"।

भगवती सूत्र में स्थविरों ने आत्मा को ही सामायिक कहा है। (आया समाइए)। कषाय के विकारों से परिशुद्ध स्वरूप ही आत्मा का निजरूप है। समभाव ही आत्मा का स्वभाव है। इनमें रमण करना ही तो सामायिक है। अर्थात् आत्मा के निजरूप की किंवा आत्मा की प्राप्ति ही सामायिक है।

सामायिक की दृष्टि से दो भेद हैं।

(१) आगार सामायिक व (२) अणगार सामायिक।

श्रावक की सामायिक दो घड़ी के मर्यादित समय के लिये व दो करण तीन योग से होती है; अतः इसे आगार सामायिक कहा गया है। साधु की

सामायिक जीवन पर्यन्त व तीन करण तीन योग; इन नौ ही कोटि से होती है, अतः इसे अणगार-सामायिक कहा गया है।

सामायिक की प्राप्ति वस्तुतः अत्यंत दुर्लभ है। सामायिक मुक्ति का एक मात्र मार्ग है। यह सच्ची शांति प्रदाता व कर्म बंधनों को काटने वाली साधना है। क्या मजाल है कि सामायिक करने के उपरांत भी मन सांसारिक कलुषों से सर्वथा निरत हो सतत् शांति प्राप्त न करे, यदि हम इसमें शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखें। सामायिक में शुद्धि का बहुत महत्व है। सामायिक के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव चारों ही शुद्ध होना आवश्यक है। अगर एकांत, शांत, परिमार्जित स्थान पर सम्यक् रीत्या समय पर शुद्ध परिधान से युक्त हो, दत्तचित्त हो, सामायिक साधना करेंगे तो अवश्यमेव अमरत्व की प्राप्ति होगी।



सामायिक की दुर्लभता व इसका महत्व

सामायिक साधना का आवश्यक अनुष्ठान एवं आध्यात्मिक आलोक का प्रगटकर्त्ता है। सामायिक ही वह साधना है जिसे सम्पन्न कर आत्मा परमात्मा, जीव शिव व भक्त भगवान वन सकता है। भगवान महावीर ने अपने दिव्य आघोष में कहा—

'जे केवि गया मोक्खं, जेवि य गच्छंति जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइय-प्पत्रावेणं मुणेयव्वं ॥
किं तिव्वेण तवेणं, किं च जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हुओ कहवि न हु होइ ॥'

अर्थात् भूत में जो भी साधक मोक्ष में गये, वर्तमान में जो जाते हैं और भविष्य में जायेंगे, वे सभी सामायिक के प्रभाव से ही। यह कार्य सिद्धि सामायिक से ही सम्भव है। सामायिक मुक्ति मार्ग का आवश्यक पड़ाव है। अगर सम भाव रूप सामायिक की प्राप्ति नहीं हुई है तो कोई व्यक्ति चाहे कितना ही तप तपे, कितना ही जप जपे, कितना ही स्थूल चारित्र (क्रिया काण्ड) पाले, मुक्ति की प्राप्ति के लिए सव व्यर्थ है। इस समता रूप सामायिक के विना न तो अतीत में किसी को मोक्ष प्राप्ति हुई है न वर्तमान में कोई जा रहा है और न ही भविष्य में ऐसा होगा।

सामायिक का साधक आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में पहली पंक्ति का सैनिक है। उसकी वरावरी न तो दानी और न ही तपस्वी कर सकता है। वह उन सव से आगे है। जिनवाणी का दिव्य आघोष सुनिये, समझिए यह स्पष्ट रूप से सामायिक का महत्व प्रतिपादित कर रहा है तथा इसको अन्य कार्यों से श्रेष्ठतम सावित कर रहा है—

'दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंड़ियं एगो।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स ॥'

एक ओर एक व्यक्ति मुक्त हस्त से लाखों का दान करने वाला है जो नित्य प्रति एक लक्ष स्वर्ण मुद्राओं का दान करता है और दूसरी ओर एक व्यक्ति है जो मात्र दो घड़ी सामायिक करता है तो दोनों में से सामायिक वाला श्रेष्ठ व्यक्ति है। लक्ष मुद्राओं का दान एक सामायिक की भी समानता नहीं कर सकता।

वस्तुतः सामायिक कर्म रोग के विनाश के लिए रामबाण औषधि है। समभाव रूप सामायिक में संवर एवं निर्जरा दोनों का ही सुन्दर समन्वय है। संवर नए कर्मों के आवागमन पर रोक है तो निर्जरा पूर्व संचित कर्मों का क्षय। करोड़ों जन्मों तक निरन्तर उग्र तपस्या करने वाला साधक जिन कर्मों का क्षय नहीं कर सकता उनको सामायिक का साधक मात्र आधे क्षण में ही करने में समर्थ है। तभी तो आचार्यों ने कहा है—

'सामायिक-विशुद्धात्मा, सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ।।'

अर्थात् सामायिक से विशुद्ध बना हुआ आत्मा ज्ञानावरणादि चारों घनघाती कर्मों का मूलतः नाश कर सर्व लोकालोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामायिक एक अद्भुत साधना है। यह उत्थान का अलौकिक राजमार्ग है। सामायिक कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मोल देकर क्रय की जा सके। दुनियां की कोई सम्पदा, राज्य या पद इसको क्रय नहीं कर सकता। सामायिक स्वयं ही अपने आपका मूल्य है। अर्थात् इसे वही प्राप्त कर सकता है जो इसकी साधना करे। तभी तो भगवान ने नरक के बंधन टालने को समुत्सुक एवं पूणिया श्रावक की सामायिक का मूल्य जानने को तत्पर सम्राट श्रेणिक से कहा था, 'राजन्! क्या तुम्हारे पास इतनी स्वर्ण मुद्रायें हैं कि इसका ढेर सूर्य व चन्द्र को छू लें। अगर इतना है तो भी यह सामायिक की दलाली के लिये भी कम होगा। भगवान द्वारा मोल सुना और अपने राज्य व वैभव में मदान्ध नृप का नशा न जाने कहां काफूर हो गया।

ऐसी अनमोल दिव्य साधना है यह। जिनवाणी का हमारे पर महान् उपकार है जिससे हमें इसका महत्व जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है तो क्यों न हम भी इस ओर अपने कुछ चरण आगे बढायें व अपनी मंजिल को पाने की तैयारी करें। सतत् साधना एक दिन अवश्य ही शुद्ध सामायिक की प्राप्ति करायेगी, भले ही प्रारम्भ में मन की चंचलता बाधक ही सिद्ध क्यों न हो। यही एक मात्र ऐसा उपाय है जो आने वाले समाज में धार्मिक निष्ठा, चारित्रिक दृढ़ता व मानवीय विश्वास तथा अनुशासन बनाये रख सकता है। यही विश्व शांति का सच्चा उपाय है। तो आएं, हम सामायिक की ओर बढ चलें।

□ □

सामायिक प्रश्नावली

प्रश्न–१ सामायिक क्या है ?

उत्तर– सामायिक एक पवित्र धार्मिक अनुष्ठान है जिसमें लीन होकर साधक ४८ मिनट तक आत्म गुण की आराधना करता हुआ सम याने समत्व प्राप्ति का अभ्यास करता है। वस्तुतः 'समे-अयनं एव सामायिकम्' समत्व की प्राप्ति ही सामायिक है। अर्थात् क्रोध-लोभादि आंतर रोगों के लिये क्षमा, संतोष आदि औषध प्राप्त करना ही सामायिक है।

प्रश्न–२ सामायिक में किस वस्तु का त्याग किया जाता है ?

उत्तर– सामायिक में हम 'सावज्ज जोगं पच्चक्खामि' याने सावद्य योगों अर्थात् पाप कार्यों का त्याग करते हैं। यह सामायिक ग्रहण के पाठ से सुस्पष्ट है।

प्रश्न–३ इस काल में सभी अतिचारों और दोषों से रहित सामायिक होना कठिन है तो सदोष सामायिक करने से तो न करना ही अच्छा है ?

उत्तर– निर्दोष सामायिक करना कठिन भले ही प्रतीत हो, पर यह अशक्य नहीं है। सांसारिक व्यवहार को चलाने के लिये तथा क्षण भंगुर जीवन को सुखी बनाने के लिये जो लोग बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हैं, क्या वे आत्मा के शाश्वत कल्याण के लिये दो घड़ी भी सचेत, सजग एवं तत्पर नहीं रह सकते। विवेकवान व्यक्ति के लिये वस्तुतः निर्दोष सामायिक कर पाना संभव है। हमें इसके लिये सतत् जागृत रह कर अभ्यास करना चाहिये।

दूसरे जब तक हमें पूर्ण निर्दोष सामायिक कर पाने की शक्ति प्राप्त न हो, तब तक हम सामायिक साधना को करना ही बन्द करले, यह विचार भी विवेकशून्य ही है। क्या मिष्ठान्न का इच्छुक उसके अभाव में रोटी भी छोड़ देगा। रत्नकंबल का आकांक्षी नंगा नहीं रहता। अतएव कदाचित् पूर्ण शुद्ध सामायिक न बन सके तो भी वर्तमान सामायिक में शुद्ध का लक्ष्य रख कर धीरे-धीरे गलती निकालते चलें, लगने वाले दोषों के लिये

प्रायश्चित करें और शुद्ध सामायिक करने का अभ्यास करते रहें। ऐसा करने से अन्ततः किसी समय शुद्ध सामायिक भी प्राप्त हो सकेगी। शोध करने वाला स्नातक भी प्रारम्भ में स्लेट पर टेडी-मेढी रेखाएं खींचते हुए अपनी शिक्षा प्रारम्भ करता है। तो फिर हम भी हमारी इस साधना रूपी शिक्षा का शुभारम्भ क्यों न करें?

प्रश्न–४ दिन भर पापाचरण करके दो घड़ी सामायिक कर भी लें तो क्या लाभ है-जबकि जीवन के पाप कर्म तो ज्यों के त्यों बने रहते हैं?

उत्तर– यद्यपि यह अधिक संगत है कि दो घड़ी की सामायिक के आदर्श को हम जीवन में, व्यवहार में उतारें। पर अभी हम क ख ग की कक्षा में हैं। सामायिक के आदर्शों पर नहीं चल पा रहे हैं; तथापि यदि दो घड़ी सम्यक् आराधना में व्यतीत करेंगे तो समझना चाहिये कि ४८ हाथ डोरी में से ४६ हाथ तो कुंए में डाल दी पर अभी दो हाथ डोर हाथ में है। यदि दृढ़तापूर्वक प्रयास करें तो क्या इस ४६ हाथ डोर को कुंए से नहीं निकाल सकते? ठीक इसी प्रकार दो घड़ी के लिए सम्यक् रूपेण सामायिक करने वाला साधक अपनी इस जमा पूंजी के बल पर अपना रत्नत्रय रूप माल पुनः प्राप्त कर सकता है।

यदि एक कुली के सिर पर बेतोल वजन रखा हो और उसमें से कुछ को उठा लिया जाय तो क्या उसे हल्कापन की स्थिति अनुभव नहीं होती। सामायिक दिन भर मिलाये गये पापों की गठरी का भार कम कर देती है।

फिर यह बात भी है कि हमारी सामायिक एक ट्रेनिंग है। सतत् सामायिक के सम्पर्क में आने वाली आत्मा एक न एक दिन अपने जीवन व्यवहार में शुद्धि प्राप्त करने में अवश्य सफल होती है।

प्रश्न–५ सामायिक का वेश व उपकरण क्या है?

उत्तर– सामायिक के वेश व उपकरण में निम्न सम्मिलित हैं—

(१) यथाशक्य श्वेत अल्पारंभी खादी की धोती

(२) यथाशक्य श्वेत अल्पारंभी खादी की दुपट्टी

(३) यथाशक्य श्वेत अल्पारंभी खादी की मुख वस्त्रिका

(४) शुद्ध श्वेत आसन

(५) माला

(६) पुस्तकें (धार्मिक)

(७) पुंजनी

प्रश्न–६ **श्रावक के व्रतों में सामायिक नवमां व्रत है। फिर प्रथम आठ को स्वीकार किये बिना ही सामायिक का अनुपालन कहां तक ठीक है ?**

उत्तर– श्रावक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह बारह ही व्रत; पहले के बाद दूसरा फिर प्रथम दो के बाद ही तीसरा व्रत, इस तरह क्रम से ग्रहण करे। भगवती सूत्र में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि बारह में से कोई भी व्रत बिना किसी क्रम के ४९ भांगों (तीन करण तीन योग से बनते हैं) में से किसी भी भंग से ग्रहण किया जा सकता है। प्रतिक्रमण सूत्र में भी 'अढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र' के पाठ में कहा है—'श्रावक एक व्रतधारी यावत् बारह व्रतधारी' दूसरी बात प्रथम से अष्टम व्रत तक तो सभी यावज्जीवन पर्यन्त होते हैं, इसलिए अगर इतनी शक्ति न हो तो नवमां व्रत जो कम से कम १ मुहुर्त का होता है वह तो आसानी से धारण किया जा सकता है। तीसरे सामायिक की साधना से राग-द्वेष घटने पर अहिंसा, सत्य आदि का पालन आसान हो सकता है। इसलिए मूल व्रतों की योग्यता पाने को भी सामायिक व्रत का साधन आवश्यक है।

प्रश्न–७ **सामायिक में यदि लघुनीत (पेशाब) आदि करना पड़े तो क्या करना चाहिये ? उसकी क्या विधि है ?**

उत्तर– सामायिक में यदि पेशाब करने जाना पड़े तो दिन के समय पुंजनी और रात्रि के समय रजोहरण लेकर तथा रात्रि में वदन और सिर पर कपड़ा ओढ कर जाना चाहिये। जाते समय तीन बार "आवस्सही" बोलना चाहिये। दिन को जीवरक्षा की दृष्टि से नीचे देखकर और रात्रि के समय पूंजकर जाना चाहिये। सामायिक में मूत्रघर, नाली, गटर आदि को वर्ज कर जहां खुली जमीन हो वहां पर भी जीव-जन्तु, धान्य, बीज और हरी वनस्पति न हो, वहां बैठना चाहिये। फिर शकेन्द्र महाराज की आज्ञा लेकर नीचे यतनापूर्वक दिन को देखकर व रात्रि को पूंजकर लघु शंका करनी चाहिये। परठ कर तीन बार "निस्सही" २ बोलना चाहिये। फिर इच्छाकारेणं का पाठ का ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार यदि बड़ीनीत से निपटना पड़ जाय तो गर्म पानी या धोवन से शुचि करनी चाहिये। प्रथम तो साधक को इन क्रियाओं

से निपट कर ही सामायिक करनी चाहिये क्योंकि कई स्थानों पर खुली जमीन नहीं मिलती। फिर टट्टी, पेशाव आदि को रोकना भी उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि शंका रोकने से जहां एक ओर मन वार २ उस ओर जाना संभव है तो दूसरी ओर इससे अनेकों रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रश्न–८ **रात्रि में शरीरादि ढक कर जाने का क्या कारण है ?**

उत्तर– सूक्ष्म अपकाय (पानी) दिन-रात हर समय वरसता रहता है। दिन में तो सूर्य की गर्मी के कारण नीचे आने के पहले ही वह सूख जाता है। किन्तु रात्रि की शीतल वेला में वैसा नहीं होने से उस पानी के जीवों की हमारे शरीर की गर्मी से सीधी हिंसा न हो, इस हेतु कपड़े द्वारा शरीर व सर को ढक कर जाते हैं। इसी कारण रात्रि को सामायिक में खुली जगह अर्थात् विना छपरे या खुली जगह पर वैठना भी निषिद्ध माना गया है।

प्रश्न–९ **जिस प्रकार पेशाव करने की इतनी विधि और सावधानी वतायी गई है, क्या कफ श्लेष्म (नाक का मल) त्याग की भी कोई विधि है ?**

उत्तर– सामायिक में कफ व श्लेष्म को भी यतनापूर्वक ही डालना चाहिए ज्यादा ऊंचाई से व विना देखे वैसे ही डालने पर उससे दव कर चींटी, मक्खी आदि जन्तु मर सकते हैं, इसलिए पहले नीचे जमीन को देख कर व रात्रि के समय पूंज कर नीचे होकर (झुक कर) डालना चाहिए। फिर हो सके तो उस पर राख या अचित मिट्टी डाल दी जाय जिससे वाद में उससे चींटी आदि उलझ कर नहीं मरे और किसी का पैर भी नहीं भरे।

प्रश्न–१० **सामायिक में रुपया, पैसा, जेवर (चैन, अंगूठी आदि) व घड़ी आदि पास में रख सकते हैं या नहीं ?**

उत्तर– वैसे तो ये सभी वस्तुएं परिग्रह में गिनी जाती हैं और परिग्रह नामक पांचवे पाप का सामायिक में त्याग होता है, इस कारण इन्हें पास में रखना कल्पनीय नहीं है। तथापि निकाल कर या उतार कर अलग रखना परिस्थितिवश सम्भव न हो तो इनका आगार रख कर सामायिक ग्रहण करना चाहिये। पर रुपयों का लेन-देन तो कदापि नहीं करना चाहिए और न ही घड़ी को चावी लगाना चाहिए।

प्रश्न–११ **घड़ी, अंगूठी आदि हाथ में पहनी हुई रहे, इसी प्रकार चैन गले में, रुपए अन्टी में पड़े रहें तो क्या हर्ज है ?**

उत्तर- जैसा पहले ऊपर बताया जा चुका है कि ये सब परिग्रह के भेद हैं, इस कारण रखना कल्प विरुद्ध है। फिर कभी घड़ी की चैन आदि अचानक खुल जाय या टूट कर गिर जाय, अन्टी के अचानक खुलने से रुपये गिर जाय तो वापिस उठाना नियम विरुद्ध है। पर इतना धैर्य रहना भी कठिन हो जाता है, इसलिये पहले से ही इस प्रकार की सब परिग्रह की वस्तुएँ पास में न रखना ही ज्यादा अच्छा है।

प्रश्न-११ सामायिक में वचन और काया तो फिर भी वश में किया जा सकता है पर मन को वश में रखना कैसे सम्भव हो सकता है ?

उत्तर- यह ठीक है कि मन का स्वभाव चंचल होने से उसका स्थिर होना सम्भव नहीं फिर भी अगर धार्मिक पुस्तकों का वांचन, नवीन ज्ञानार्जन, धार्मिक चर्चा, वार्ता और धर्मोपदेश आदि करने व सुनने में मन को जोड़ दिया जाय तो उसका इधर-उधर भटकना बन्द होगा और कुछ न कुछ नई जानकारी भी बढती रहेगी। श्रुत ज्ञान में अनुप्रेक्षा मन के स्थिरीकरण का बहुत ही सरल और सही मार्ग है।

□ □